दार्शनिक प्रवर

स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

की स्मृति में

भूमिका

कालिदास के काव्य की आलोचना म प्रवृत्त होते समय कालिदास की उक्ति ही याद आ रही है—

> क्व सूर्य-प्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति ।
> तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
> मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
> प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामन ॥

'कहाँ वह सूर्यप्रभव वश—और कहाँ मेरी अल्पविषया मति ! मोहवश मैं बेडे से ही दुस्तर सागर पार करने का इच्छुक हुआ हूँ ! मुझ मन्दकवियश-प्रार्थी को केवल उपहास ही मिलेगा—जैसे उपहास का भाजन बनता है प्राशुलम्य फल के लिए हाथ बढाकर कोई बौना ।' सस्कृत-साहित्य मे मेरी जो अल्पविषया मति है, उसी के सहारे कालिदास की आलोचना मे प्रवृत्त हो कर स्वय ही समझ रहा हूँ कि मेरा यह प्रयास नितान्त 'मोहात्' ही है—प्राशुलम्य फल के लिए हाथ बढाकर शायद उपहास का ही भाजन बनूँगा, किन्तु कालिदास ने ही यह भी कहा है —

> रघूणामन्वय वक्ष्ये तनुवाग् विभवोऽपि सन् ।
> तद्गुणै कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदित ॥
> त सन्त श्रोतुमर्हन्ति सदसद्-व्यक्ति-हेतव ।
> हेम्न सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामिकापि वा ॥

'मेरा वाग्विभव अत्यन्त अल्प होने पर भी मैं रघुगण का अन्वित वर्णन करूँगा, क्योकि रघुगण की गुणावली ने ही मेरे कर्णों म प्रवेश कर मुझे सह

काव्य मे उपमा-प्रयोग एव साधारण रूप से अलंकार-प्रयोग का तात्पर्य

'उपमा तो कालिदास की'—यह कथन प्रसिद्धि से ऊपर उठकर अब प्राय लोकोक्ति मे परिणत हो गया है। सस्कृत साहित्यालोचना की परिधि पार कर अब सालकार वाक्चातुर्य के प्रसग मे भी यह कथन शिथिल रूप से प्रयुक्त होते देखा जाता है। जब हम कालिदास की उपमा की बात करते है, तब हम लोग केवल उनके उपमा अलकार के प्रयोग-नैपुण्य की ही बात नही करते, उनकी एक विशेष प्रकार की अननुकरणीय सालकार प्रकाशभगिमा की ही बात करते हैं। इसलिए कालिदास के सम्बन्ध म उपमा शब्द का वाच्यार्थ सब प्रकार के अलकार हैं। सब प्रकार के अलकारो के अर्थ म उपमा शब्द का व्यवहार नितान्त अयौक्तिक या असार्थक नही है। उपमा ही सब प्रकार के अर्थालकारो का मूल है। यदि हम लोग कुछ विश्लेषण एव विचार करें, तो देख सकेंगे कि किसी न किसी प्रकार का सादृश्य या साधर्म्य ही है उपमा अलकार का मूल—अन्यान्य सभी अलकारो मे हम लोग इसी सादृश्य या साधर्म्य के विविध एव विचित्र प्रयोग पाते है—चाहे वे अस्त्यर्थ रूप म हो, या नास्त्यर्थ रूप मे। विरोध या असादृश्य भी सादृश्य और साधर्म्य का ही दूसरा पहलू है।

उपमा अलकार के इस बहु अलकार-मूलत्व के विषय म सस्कृत के आचार्य (आलकारिक) गण ही विचार कर गए हैं। अप्पयदीक्षित ने अपने 'चित्र मीमासा' ग्रथ म कहा है—

उपमैका शैलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिका-भेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेत ॥

अर्थात्, 'उपमा ही एकमात्र नटी है जो विभिन्न विचित्र भूमिकाओ म काव्यरूपी रगमच पर नृत्य करती है एव काव्यविदो का मनोरजन करती है।'

कुछ ध्यानपूर्वक विचार करने से ही हम समझ सकेंगे कि यह कथन अत्यन्त गूढार्थ-व्यजक है। काव्य म आगत काव्यशोभा का मनोरजन करने के लिए जिस प्रकार के रचना-कौशल हैं, उनके मूल म है इसी एकाकिनी

उपमारूपिणी नटी का ही विविध लीला विलास। अप्पयदीक्षित ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए एक विशेष दृष्टान्त दिया है। उन्होंने मुख और चन्द्र के सहारे सारी बात को समझा कर कहने की चेष्टा की है

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णन तावदुपमा। सैवोक्तिभेदेनानेकालंकारभाव भजते। तथा हि। चन्द्र इव मुख मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा। मुख मुखमिवेत्यनन्वय। मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम्। चन्द्र दृष्ट्वा मुख स्मरामीति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण ताप: शाम्यतीति परिणाम। किमिद मुखमुताहो चन्द्र इति सन्देह। चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्तीति भ्रान्तिमान्। चन्द्र इति चकोरा कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्तीत्युल्लेख। चन्द्रोऽय न मुखमित्यपह्नुव। नून चन्द्र इत्युत्प्रेक्षा। चन्द्रोऽयमित्यतिशयोक्ति। मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते इति तुल्ययोगिता। निशि चन्द्रस्त्वन्मुख च हृष्यतीति दीपकम्। त्वन्मुखमेवाह रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यति इति प्रतिवस्तूपमा। दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखमिति दृष्टान्त। मुख चन्द्रश्रिय विभर्तीति निदर्शना। निष्कलङ्क मुख चन्द्रादतिरिच्यते इति व्यतिरेक। त्वन्मुखेन सम चन्द्रो निशासु हृष्यतीति सहोक्ति। मुख नेत्राम्बरुचिर स्मितज्योत्स्नोज्ज्वलाभिर्नमिति समासोक्ति। अब्जेन सदृश यस्य हरिणाङ्कितशक्तिना इति श्लेष। मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभ इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकासराविवर्तशैलीयमुपमा।

'मुखचन्द्र के द्वारा ताप का उपशमन होता है,' ऐसा कहने पर 'परिणाम' अलकार हुआ। 'यह मुख है या चन्द्र ?'—यहाँ 'सन्देह' अलकार है। 'चन्द्र समझ कर चकोरगण तुम्हारे मुख की ओर आकृष्ट होते है,'— यहाँ 'भ्रातिमान्' अलकार है। 'चन्द्र समझ कर चकोरगण एव कमल समझ कर अलि समूह तुम्हारे मुख के प्रति अनुरक्त होते है,'—यहाँ 'उल्लेख' अलकार हुआ। 'यह चन्द्र है, मुख नही,'—यहाँ 'अपह्नुति' है। '(मुख) मानो चन्द्र है,'—यहाँ 'उत्प्रेक्षा' है। 'यह रहा चन्द्र,'—यहाँ उपमेय का बिल्कुल उल्लेख न कर उपमान का ही उपमेय रूप म निर्देश करने के कारण 'अतिशयोक्ति' अलकार हुआ। 'मुख द्वारा चन्द्र और कमल दोनो ही विजित हुए,'—यहाँ 'तुल्ययोगिता' है। 'रात्रि मे चन्द्र और तुम्हारा मुख हर्षित होते हैं,'—यहाँ 'दीपक' है। 'तुम्हारा मुख है—यह समझकर मैं आनन्दित होता हूँ और 'चन्द्र है—यह समझकर चकोर आनन्दित होता है,'—यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलकार है। 'आकाश मे चन्द्र, पृथ्वी पर तुम्हारा मुख,'—यहाँ 'दृष्टान्त' अलकार है। 'मुख चन्द्र-श्री धारण करता है—यहाँ 'निदर्शना' है। 'निष्कलक मुख चन्द्र से भी बढ गया है—यहाँ 'व्यतिरेक' है। 'तुम्हारे मुख के समान चन्द्र रात्रि मे हर्षित होता है'—यहाँ 'सहोक्ति' है। 'नेत्राङ्करुचिर मुख स्मित-ज्योत्स्ना से उपशोभित है,'—यहाँ चन्द्र ही मुख है, चन्द्र के अन्तर्गत कृष्णचिह्न समूह मानो नेत्राङ्क हैं, ज्योत्स्ना मानो स्मित हास्य की छटा है अत समासोक्ति अलकार हुआ। 'अब्जेन सदृश वक्त्र हरिणाहितशक्तिना'—वाक्य म 'अब्ज' शब्द का अर्थ चन्द्र भी किया जा सकता है (अप् से जात अर्थात् समुद्र से उत्पन्न), और कमल भी किया जा सकता है। 'हरिणाहितशक्तिना' शब्द का अन्वय हरिण+आहित+शक्तिना अथवा हरिणा (हरि द्वारा या सूर्यकिरण द्वारा), दोनो प्रकार से किया जा सकता है, इसलिए यहाँ 'श्लेष' अलकार हुआ। 'मुख के समान चन्द्र निष्प्रभ है—यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशसा' अलकार है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि केवल मुख एव चन्द्र का अवलम्बन कर बाईस अलकारों के दृष्टान्त दिय गए। इन बाईस अलकारो के मूल म जो केवल मुख और चन्द्र के पारस्परिक सादृश्य पर आधारित एक तुलना है—अर्थात् उपमा अलकार है, इस विषय मे किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नही है। ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायगा कि अप्पयदीक्षित ने इन बाईस अलकारो को उपमा का ही विवर्त्त-मात्र कहा है। 'यहाँ उपमा का विवर्त्त' कहने से तात्पर्य यह है कि मूलत सभी उपमा हैं—उक्ति भेद के कारण पृथक्-पृथक् रूपो म

केवल प्रतीयमान होते है।

इसीलिए हम कह रहे थे कि कालिदास की उपमा के विचार-विश्लेषण या आस्वादन का अर्थ उनके काव्य-नाटक आदि से चुन चुनकर केवल उपमाओं का ही विचार-विश्लेषण या आस्वादन नही है, वास्तव मे यह कालिदास द्वारा व्यवहृत समस्त अलकारो का विचार-विश्लेषण एव आस्वादन है। ऐसा करते समय एक और विषय के सम्बन्ध म अपनी धारणा का स्पष्ट कर लेना आवश्यक है, वह है सस्कृत साहित्य के विचार-क्षेत्र मे 'अलकार' शब्द का तात्पर्य। यह 'अलकार' शब्द सस्कृत साहित्य समालोचकगण द्वारा दो अर्थों मे व्यवहृत हुआ है—एक तो *साधारण अर्थ मे*, दूसरे *गम्भीर अर्थ म*। *साधारण अर्थ म* अलकार शब्द को उसके व्यावहारिक प्रयोग और मूल्य के स्तर पर ही व्यवहृत होते दखते है। किसी सुपुरुष का जैसे एक शरीर होता है, उस शरीर के भीतर आत्मा रहती है, शौर्य-वीर्य रहता है, काणत्व आदि की तरह जैसे कुछ दोष भी रह सकते हैं, जैसे उसके अवयव सस्थान मे एक वैशिष्ट्य रह सकता है, उसी तरह इन सब के साथ उसके आभूषण भी हो सकते हैं, जो उसकी शोभा बढा देते है। इसी तरह काव्य-पुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का है, रस उसकी आत्मा है, अलकार उसके भूषण है। अलकार के सम्बन्ध म इसी तरह की धारणा होने के कारण विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्यदर्पण' मे अलकार का स्थान निर्णय करते हुए कहा है—**काव्यस्य शब्दार्थौ शरीर, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत, रीतयोऽवयव-सस्थान-विशेषवत्, अलकाराश्च कटककुण्डलादिवत्**। अलकार के सम्बन्ध मे यह मत, काव्य-सृष्टि के अन्तर्गत अलकार का स्थान बहुत गौण कर देता है, वह हो तो अच्छा है, न हो तो काव्य नितान्त महत्त्वहीन हो जायेगा, ऐसी बात भी नही।

किन्तु प्राचीन आलकारिकों ने 'अलकार' शब्द का प्रयोग अधिक गम्भीर अर्थ म किया है, एव अलकार शब्द के उसी गम्भीर अर्थ के आधार पर ही सस्कृत समालोचना शास्त्र अलकार शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस व्यापक एव गम्भीर अर्थ म अलकार शब्द का लक्ष्य है, एक मानव के हृदय की अनिर्वचनीय रसानुभूति दूसरे के हृदय म सक्रमित कर देने का समग्र कौशल। हमारे जीवन की रसानुभूतियाँ केवल सूक्ष्म, सुकुमार एव अनन्त वैचित्र्यशील ही नहीं होती, बल्कि हृदय के गहन अन्तराल म बहुत बार अनिर्वचनीय 'स्पन्दन-रूपिणी होती है। इसी अनिर्वचनीय का वर्णन करने की चेष्टा

ही है हमारी सम्पूर्ण साहित्य-चेष्टा, बल्कि सम्पूर्ण कला-चेष्टा। साधारण शब्दो द्वारा अप्रकाश्य होने के कारण हमारा रसोद्दीप्त या रसाप्लुत चित्-स्पन्दन अनिर्वचनीय है। इस अनिर्वचनीय को वचनीय करने के लिए प्रयोजन होता है असाधारण भाषा का। इस प्रसग मे यह लक्षणीय है कि भाषा शब्द का भी तात्पर्य है—चित्स्पन्दन का वहि प्रकाश-वाहनत्व। हमारी अनुभूति का एक विशेष धर्म एव स्वरूप धर्म ही यह है कि उसे अभिव्यक्त करना होता है —दूसरे के निकट नही तो अन्तत अपने ही निकट—और इसी अभिव्यक्ति-क्रिया मे ही मानो अनुभूति की परिपूर्णता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति ही भाषा-सृष्टि का मूल कारण है, अथवा यह कहा जा सकता है कि भाषा साधारणत अनुभूति की ही अभिव्यक्ति है—चित्स्पन्दन का ही शब्द प्रतीक है। आज के युग मे कोई भी इस पर विश्वास नही करता कि ससार मे हम लोग जो असख्य प्रचलित भाषाएँ देखते है, वे वायु-मण्डल मे चारो ओर उडी-उडी फिरती थी, और मनुष्य ने अपने प्रयोजन के अनुसार उन्हे चुन लिया। मनुष्य आदिम युग से ही अपने को अभिव्यक्त करने के लिए नित्य ही भाषा की सृष्टि करता चला आ रहा है। पशु पक्षियो की तरह मनुष्य भी शायद किसी दिन केवल ध्वनि के परिमाण-वैचित्र्य एव प्रकार-वैचित्र्य द्वारा ही अपने हृदय का भाव अभिव्यक्त करता था। हृदय के भावो मे जैसे-जैसे सूक्ष्मता, जटिलता एव गम्भीरता आने लगी, ध्वनि के परिमाण-वैचित्र्य एव प्रकार वैचित्र्य मे भी वैसे-वैसे ही आने लगी सूक्ष्मता, जटिलता और गभीरता। क्रमश सृष्टि होने लगी, विशेष-विशेष सुसमृद्ध भाषाओ की। किसी किसी वैयाकरण का विश्वास है कि आरम्भ मे भाष् धातु (बोलना) भास् धातु (प्रकट करना) के साथ ही युक्त थी।

किन्तु किसी कवि को भाषा के द्वारा जिस अन्तर्लोक का परिचय देना होता है, वह उसका एक विशेष अन्तर्लोक है—इस अन्तर्लोक का स्पन्दन सर्व-साधारण के हृत्स्पन्दन से बहुत कुछ भिन्न होता है—इसीलिए साधारण भाषा म उसको वहन करने की शक्ति भी नही होती। कवि का वही विशेष हृत्स्पन्दन अपने वाहन के रूप म एक विशेष भाषा की सृष्टि करता है। उस विशेष भाषा को ही हम लोगो ने ही नाम दिया है—सालकार भाषा। हम काव्य के जिन धर्मों को अलकार नाम से पुकारते हैं, थोडा सोचने पर समझ सकेगे कि वे अलकार कवि की उस विशेष भाषा के ही धर्म हैं। कवि की काव्यानुभूति स्वानुरूप चित्र, स्वानुरूप वर्ण, स्वानुरूप झकार लेकर ही आत्मा-

भिव्यक्ति करती है । जब कवि की विशेष काव्य-रसानुभूति इस विशेष भाषा मे मूर्त नही हो पाती, तब सच्चे काव्य की रचना नही हो पाती ।

रस समाहित हृदय के इस स्पन्दन को अभिव्यक्त करने के लिए कवि की यह जो विशेष या असाधारण भाषा है, उसका परिचय विभिन्न साहित्य-समालोचको ने, विभिन्न कालो मे, विभिन्न प्रकार से देने की चेष्टा की है। भामह ने इसको कहा है वक्रोक्ति—'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति'। भामह का विवेचन पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार वक्रोक्ति केवल सरल भाव से बात न कहकर उसे जरा घुमा कर टेढेपन से कहने का चातुर्य ही नही है, बल्कि वक्रोक्ति का यहाँ अर्थ है—काव्योचित विशेषोक्ति। अलकारादि इस विशेषोक्ति के ही पर्याय-मात्र है । भामह ने ही और एक सूक्ष्म तत्त्व की ओर इगित किया है , वह है 'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्'—'शब्द और अर्थ का सहितत्व ही काव्य है ।' इसी 'सहित' शब्द से काव्य के स्थान पर व्यापक अर्थ मे साहित्य शब्द का व्यवहार हम परवर्ती काल मे देखते हैं। यहाँ 'सहित' शब्द का तात्पर्य क्या है ? भाव-गूढ अर्थ मे जो सम्भावना और शक्ति निहित है, वह यदि शब्द शक्ति द्वारा यथायथ रूप से प्रकाशित या प्रतिफलित होती रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का सहितत्व साधित हुआ है । अर्थ-शक्ति यदि सम्पूर्ण रूप से शब्द-शक्ति मे समाहित न हो, 'चित्' यदि अनुरूप 'तनु' प्राप्त न कर सके, तब दोनो के असाहित्य द्वारा काव्यत्व का असद्भाव (अभाव) होगा ।

इसी प्रसग मे भामह ने और एक सूक्ष्म बात कही है । उनका कथन है कि 'काव्योक्ति सर्वदा अतिशयोक्ति ही है ।' इस बात मे एक गम्भीर सत्य छिपा हैं। एक दृष्टि से देखने से कलाकृति-मात्र ही है अतिरजित चित्रण । सब प्रकार की कलाओ का प्रधान कार्य है—एक व्यक्ति के भावो को सार्वजनिक बनाना, एक क्षण के भाव को सार्वकालिक बनाना । बिना कुछ बढाये-चढाये हम वैसा कभी नही कर सकते । इसके अतिरिक्त कलाकार के अपने निकट जो रसानुभूति प्रत्यक्ष है, पाठक, श्रोता या दर्शक के निकट वह परोक्ष है । इसी लिए चित्गत रसानुभूति को अभिव्यक्ति-कौशल द्वारा बिना अतिरजित किये पाठक, श्रोता या दर्शक रस की समग्रता प्राप्त नही कर सकता । इस सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ ने कहा है

"मेरा सुख-दु ख मेरे निकट अव्यवहित है, तुम्हारे निकट तो वह वैसा नही है । मुझसे तुम दूर हो , इसी दूरी का विचार कर अपनी बात तुम्हारे निकट

कुछ बढ़ाकर ही कहनी पड़ती है। सत्य रक्षण करते हुए इस बढ़ाने की क्षमता द्वारा ही साहित्यकार का यथार्थ परिचय मिलता है। जैसा है, ठीक वैसा ही लिखना साहित्य नही है, क्योकि प्रकृति म जो देखता हूँ, वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है, मेरी इन्द्रियाँ उसकी साक्षी देती हैं। साहित्य मे जो दीख पडता है, वह प्राकृतिक होने पर भी प्रत्यक्ष नही है, अत साहित्य मे उसी प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति करनी होती है।"

बढा कर कहने का प्रयोजन केवल प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता के कारण ही नही है, इसलिए भी है कि कला मे हमे निरवधि काल और विपुला पृथ्वी को कुछ क्षणो एव स्वल्प आयतन के भीतर ही ग्रहण करना होगा। देश देश मे व्याप्त सुदीर्घ जीवन के सम्पूर्ण सुख दु ख को, अनेक मानवो की हास-अश्रुमय जीवन-महिमा को हमे एक प्रहर मे अभिनीत होने वाले एव नाटक के भीतर प्रकाशित करना होगा, इसीलिए कलाकृति के द्वारा रगमच की परिधि को बढाकर उसे विपुला पृथ्वी का प्रतिभू (प्रतिनिधि) बनाना पडेगा। 'एक प्रहर काल को केवल अनेक वर्षों का ही नही, निरवधि काल का प्रतिभू बनाना पडेगा। किसी अभिनेता का अभिनय-नैपुण्य ही क्या है—अनेक युगो की, अनेक देशो की, *अनेक बातो को निर्दिष्ट देश-काल की सीमा के भीतर ही यथासम्भव आभासित* कर देना। सगीत के क्षेत्र मे हम पदो मे जो सुर लगाते हैं, वह सीमाबद्ध, छोटे से पद को सीमाहीन व्याप्ति एव असीम रहस्य महिमा दान करने के लिए ही। उदयाचल पर अनन्त दिग्वलय-विस्तृत सूर्योदय की शाश्वत महिमा को केन्द्रित करना होता है कलाकार को कागज के एक छोटे-से टुकडे पर, कुछ रग एव रेखाओ के सहारे, इसीलिए उस रग-रेखा म भरनी पडती है छोटे म बडे को आभासित करने की शक्ति। वही तो यथार्थ चित्रकला है।

हमे लगता है कि भामह की *'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति'*—इस बात म, एव वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति कहकर वर्णित करने म, कला-क्षेत्र के इसी बढा कर कहने के सिद्धान्त का आभास मिलता है। इसीलिए कला की भाषा को पश्चिम मे भी कहा गया है '*The hightened language*'। भामह के मतानुसार अलकारादि वस्तुत और कुछ *नहीं*—वाच्यार्थ को यथासभव अतिशय या बढा कर कहने की चेष्टा है। तभी तो भामह ने अतिशयोक्ति को ही सब प्रकार के अलकारो का मूल कहा है। आलकारिक दण्डी द्वारा भी भामह की इस बात का समर्थन होता है। उनके मतानुसार भी प्राय समस्त अलकारो का कार्य है अर्थ को बहुत बढ़ा देना, और इसीलिए उनका विचार है कि सभी अलकारो मे

अतिशयोक्ति का बीज छिपा है। परवर्ती काल के काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी अतिशयोक्ति का निर्देश, उसे 'समस्त अलकारो का प्राण स्वरूप' कहकर किया है।

भामह-कथित इस वक्रोक्ति का नाना प्रकार से विस्तार कर परवर्ती काल के राजानक कुन्तक, दशम या एकादश शताब्दी मे अपने प्रसिद्ध 'वक्रोक्ति-काव्य-जीवित' वाद का, अर्थात् 'वक्रोक्ति ही काव्य के प्राण-स्वरूप है' इस मत को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा कर गए हैं। ग्रन्थ के आरम्भ मे ही कुन्तक ने कहा है कि साधारणत पण्डितगण त्रैलोक्यवर्ती सभी भावो की यथातत्त्व विवेचना करने की चेष्टा करते हैं, अर्थात् भाव जिस रूप के भीतर प्रकाशित हुआ है, एव जिस रूप के साथ वह प्राय अद्वययोग से युक्त है, उसी को बाद देकर, केवल तत्त्वरूप म वे भाव की ही विवेचना कर उसे समझने की चेष्टा करते है। किन्तु यह चेष्टा एकदम व्यर्थ है, क्योकि इस चेष्टा द्वारा हम भाव को तत्त्वरूप म ही प्राप्त करते है, जबकि उस भाव के अनक विस्मयकर रहस्य बडी मात्रा मे नष्ट हो जाते है। किसी उक्ति के तत्त्वगत भाव को ही ग्रहण करना वैसा ही है, जैसा पलाश के फूल को उसके सम्पूर्ण रूपगत सौन्दर्य से पृथक् कर केवल लाल रग के फूल की तरह ग्रहण करना। इस चेष्टा द्वारा मनुष्य अपने अपने बुद्धिबल से भाव समूह के कुछ तत्त्वो का यथारुचि आविष्कार कर लेता है। इस प्रकार यथाभिमत तत्त्वदर्शन के फलस्वरूप ज्ञान की दृढता ही प्रकाशित होती है—भाव का परमार्थ या यथार्थ स्वरूप सम्भवत इसस प्राप्त नही होता, इस तरह हम जिस परमार्थ की कल्पना करते है, वह शायद वैसा बिल्कुल नही होता। अत भाव का इस प्रकार का स्वतत्र तत्त्व—अर्थात् सृष्टि के अन्तर्गत, रूप के अन्तर्गत उसकी जो प्रकाशमय सत्ता है, उस सम्पूर्ण बाद देकर भाव का एक 'असग' 'केवल' तत्त्व आविष्कार करने की चेष्टा भूल है। इसलिए भाव एव रूप का जो आन्तरिक साहित्य (सहितत्व) है, उसका सार रहस्य उद्घाटन करन की इच्छा से ही कुन्तक ने इस साहित्य-तत्त्व की आलोचना आरम्भ की—

यथातत्त्व विवेच्य ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिन॰ ।
यदि त्वन्नाद्भुत न स्यादेव रक्ता हि किंशुका ॥
स्वमनीषकयैवाय तत्त्व तेषा यथारुचि ।
स्थाप्यते प्रौढिमात्र तत परमार्था न तादृश ॥

को देखकर हम अभिभूत हो जाते है। एक के बाद एक समुद्र की निरवच्छिन्न तरगो की तरह वे चली ही आती है, चली ही आती हैं। उनमे से किसी एक की आन्तरिक निर्माण-निपुणता एव व्यजना-गर्भता का जब हम विचार-विश्लेपण करते हैं, तब सोचते है कि ऐसी एक कल्पना भी कालिदास के मन मे उदित ही किस तरह हुई। उसके बाद घूमकर देखते हैं ऐसी ही अजस्र, अनन्त कल्पनाएँ ! कैसे यह सभव होता है—इसका उत्तर दिया है ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने। उन्होने कहा है

अलकारान्तराणि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसा प्रतिभानवत कवेरहपूर्विकया परातपन्ति।

'अलकारो पर यदि ऐसे ही विचार किया जाये, तो लगता है कि ये सब एकदम दुघट हैं, किन्तु रससमाहित प्रतिभावान् कवि के चित्त मे रस के आक्षेप से ही ये मानो—'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए, ठेला-ठेली करते हुए बाहर निकल आते हैं।'—आनन्दवर्धन के इस कथन की व्याख्या करते हुए, अभिनवगुप्त ने कहा है—**निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितमपि कर्त्तुमशक्यानि। तथा निरूप्यमाणत्वे दुर्घटनानि। कथमेव रचितानीत्येव विस्मयावहानि।** अर्थात्, ऐसे अलकारो की सृष्टि करने की चेष्टा करने पर या उनके निर्माण-कौशल का परिवेक्षण करने पर लगता है कि ये एकदम दुर्घट हैं। बुद्धि की सहायता से इनकी रचना करने की अनेक चेष्टाएँ करने पर भी कोई सक्षम नही होता। उसके बाद जब यह दुर्घट वस्तु सभव हो उठती है, तब आश्चर्यान्वित हो जाना पडता है कि कैसे हुई ऐसी विस्मयकर वस्तु की सृष्टि !

रससवेग द्वारा ही अलकार के स्वत प्रकाशन के इस सिद्धान्त के प्रसग मे हम पाश्चात्य दार्शनिक समालोचक क्रोचे के सिद्धान्त का सक्षेप म उल्लेख कर सकते हैं। चित्त की सहजानुभूति (intuition) एव अभिव्यजना (experession)—इन दो वस्तुओ को उन्होने दो प्रक्रियाओ से उत्पन्न नही माना है। चित्त म यथार्थ रसानुभूति हुई है, किन्तु उसकी यथोपयुक्त अभिव्यजना नही हो सकी—इस बात पर वे बिल्कुल विश्वास नही कर सकते थे। उनका विश्वास था कि कला की अभिव्यजना की सम्भावना बीज रूप मे हृदय की रसानुभूति मे ही निहित रहती है, जैसे निहित रहती हैं एक विराट् वृक्ष मे शाखा-प्रशाखाएँ, किसलय-पल्लव, फूल-फल की रेखाएँ, वर्ण, गन्ध, स्वाद आदि की प्रकाश-सभावना एक छोटे-से बीज मे। क्रोचे के मतानुसार इसीलिए साहित्य

के रस एव साहित्य की भाषा मे अद्वय-योग रहता है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे कोई रसानुभूति जिस प्रक्रिया द्वारा हमारे चित्त मे उन्मीलित होती है, ठीक उसी प्रक्रिया मे ही उसकी अभिव्यजना भी—जिस रूप मे वह हमारे चित्त मे उन्मीलित हो उठती है, उस रूप मे ही उसकी अभिव्यजना होती है। क्रोचे द्वारा वर्णित इस सौन्दर्यानुभूति की शक्ति (aesthetic faculty) एव अभिव्यजना शक्ति के आन्तरिक अद्वयवाद को हम स्वीकार कर सकते हैं, नही भी कर सकते हैं, किन्तु यह बात ठीक है कि किसी वहिर्वस्तु का अवलम्बन कर हमारे चित्त मे जब रसोद्रेक होता है, तब उस रसोद्रेक की स्फुटता, सूक्ष्मता, गम्भीरता और उसकी कमनीयता या प्रचण्डता के भीतर ही रहती है भाषामय रूप मे उसकी अभिव्यजना की स्फुटता, सूक्ष्मता, गभीरता, उसकी कमनीयता या प्रचण्डता। भाषा का यह समस्त सौकुमार्य बाहर से कटक्कुण्डलादि की तरह कुछ जोडा हुआ नही है, काव्य-पुरुष का यही स्वाभाविक देह-धर्म है। अभिनवगुप्त ने भी इसीलिए स्पष्ट कहा है

न तेषा बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

कवि कालिदास स्वय भी इस विषय मे अद्वयवादी थे। उनका यह अद्वयवाद जिस तरह उनके समस्त कवि-कर्म द्वारा प्रकाशित हुआ है, उसी तरह दो-एक परोक्ष उक्तियो द्वारा भी प्रकट होता है। हम कालिदास-कृत 'रघुवश' महाकाव्य के प्रथम श्लोक मे ही लक्ष्य कर सकते हैं कि उन्होंने जगत् के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर को प्रणाम करते हुए कहा है

वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत. पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

यहाँ विशेषकर जिस बात को ध्यान मे रखना होगा, वह यह है कि कालिदास के मतानुसार वाक्य और अर्थ—काव्य की अन्तर्निहित भाव-वस्तु एव उस का प्रकट रूप शब्द—परस्पर वैसे ही नित्य-सम्बन्ध-युक्त हैं, जैसे नित्य-सम्बन्ध-युक्त हैं, विश्व-सृष्टि के आदि माता-पिता पार्वती-परमेश्वर। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि जो शिव हैं, वे हैं निराकार, विशुद्ध, चिन्मय, भावमात्र-तनु। इसी भाव-तनु को भव-तनु मे प्रकट करती है त्रिगुणात्मिका शक्ति। इस शक्तिरूपिणी, प्रकाशरूपिणी पार्वती के माध्यम मे ही चलती है भवरूप महेश्वर की समस्त रूपलीला। भाव की भव-लीला प्रकाशात्मिका महेश्वरी की लीला मे शिव अपने-आप मे भावमात्र हैं। तन्त्र मे देखते हैं कि यह शिव एव शक्ति, कोई भी परस्पर-निरपेक्ष, स्वतन्त्र नहीं है। शिवाश्रय के बिना शक्ति की लीला नही—शक्ति के बिना शिव

का भवत्व या अस्तित्व ही नही—शिव तब शव मात्र हैं। साहित्य के क्षेत्र मे भी अर्थ का भावरूप महेश्वर एव शब्द या भवरंजिनी पार्वती, दोनो ही एक-दूसरे के आश्रित है। उपयुक्त अभिव्यंजना के बिना अर्थ असत्ता-मात्र है, और अर्थ के घनिष्ठ योग से रहित अभिव्यंजना शब्दाडम्बर है, 'अर्थ'—होने के कारण ही 'निरर्थक'। शब्दार्थ का यह पार्वती-परमेश्वर की तरह जो नित्य, परस्पर-सबद्ध भाव है, वही साहित्य शब्द का मौलिक तात्पर्य है। शब्दार्थ के उस साहित्य या अद्वययोग म सहजात विश्वास ही है कालिदास की समस्त कला का मूल रहस्य।

शब्द के साथ पार्वती की तुलना—या शब्द को आरम्भ से शक्तिमूल कह कर ग्रहण करने की यह प्रवणता भारतीय चिन्ताधारा मे नाना रूप मे बहुत गहरी दिखलायी पडती है; शब्द मूलत है 'नाद'-तत्त्व, अर्थ है 'विन्दु'-तत्त्व। शक्ति ही नाद है—शिव ही विन्दु है। उपनिषद् आदि मे देखते है कि ब्रह्म के रूप है—मूर्त्त एव अमूर्त्त। यह मूर्त्त ब्रह्म है शब्द-ब्रह्म, अमूर्त्त ब्रह्म है अशब्द-ब्रह्म। शब्द-ब्रह्म ही नाद है, अशब्द-ब्रह्म ही विन्दु हैं। भारतीय स्फोटवाद के मतानुसार शब्द के चार रूप या अवस्थाएँ है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वागयन्त्र की सहायता से उत्थित वायु-स्पन्दन रूप मे जो कान मे प्रवेश करता है, वह शब्द का एकान्त वाह्य रूप है—यही वैखरी है। मध्यमा इससे शब्द का सूक्ष्मतर रूप है। मध्यमा का कोई बाहरी रूप नही है, वह 'अन्त-सन्निवेशिनी' है, एकमात्र बुद्धि ही है उसका उपादान—'बुद्धिमात्रोपदाना', अर्थात् बुद्धि व्यापार मे ही उसका अस्तित्व है, वह सूक्ष्मा एव प्राणवृत्ति की ही अनुगता है। यद्यपि बुद्धि-व्यापाररूप मे सब प्रकार के प्रकाश क्रम उसमे सहत हैं, तथापि समस्त प्रकाशक्रम की सम्भावना भी उसके भीतर निहित है—उपयुक्त समय मे वह क्रम-परम्परा द्वारा आत्म-प्रकाश करती है। पश्यन्ती अवस्था और भी सूक्ष्म है—यह बहुत-कुछ ज्ञान और ज्ञेय की एकीभूत अवस्था है। 'सृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ मे बीज मे समस्त वृक्षोत्पादन की शक्ति जिस तरह विविध रूप मे फूट उठने के लिए प्रस्तुत रहती है, अथच अपने को विभक्त कर प्रकट नही करती, भीषण तूफान के पहले प्रकृति की अन्त स्तब्धता के भीतर जिस तरह उसका शक्ति-पुज अपने मे लीन रहता है, चित्त की भी वैसी एक अवस्था होती है, जिस अवस्था का अर्थरूप म उद्बोध नही होता, अथच चित्त के स्वाभिन्न स्पन्दन मे वह विघृत हुई रहती है—इस अवस्था को कहते हैं पश्यन्ती।'* इस पश्यन्ती के भी पीछे है एक 'भावविचाराचर-

* काव्यविचार डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

बीजरूपिणी' पराशक्ति—जिससे विश्व-सृष्टि उत्सारित होती है, वही नाद-रूपिणी पराशक्ति। इस पराशक्ति को तन्त्र मे कहा गया है कामेश्वरी, ज्ञान-मात्रतनु शिव की सकल अभीष्ट-पूर्ति द्वारा उसकी सकल कामना पूर्ण कर उस को सदानन्द मे निमग्न रखने के कारण ही वे कामेश्वरी हैं। शिव की अभीष्ट पूर्ति शब्द का तात्पर्य है—शिव का सुष्ठु प्रकाश। इस प्रकाश-रूपिणी देवी को तभी तो कहा गया है शिव की विमल आदर्शरूपिणी। कोई जिस तरह आप ही अपना आस्वाद नही ग्रहण कर सकता—निर्मल दर्पण मे आत्म-सौन्दर्य-माधुर्य सम्यक् प्रतिफलित होने पर उस के अवलम्बन द्वारा ही जैसे आत्म-आस्वादन सम्भव है, वैसे ही प्रकाशरूपिणी शक्ति के विमल आदर्श (दर्पण) मे आत्म प्रतिफलन को देखकर शिव आत्म-सम्भोग करते है। काव्य और अन्यान्य कला के क्षेत्र म भी हम वही सत्य देखते हैं। अमूर्त चिन्ता, वह कितनी ही सूक्ष्म एव मूल्यवान् क्यो न हो जब तक उपयुक्त रूप का आश्रय ले प्रकाशित नही होती, तबतक वह असत् है, अनास्वाद्य है। कुन्तक के 'वक्रोक्तिकाव्यजीवित' ग्रन्थ के आरम्भ मे साहित्य की तात्पर्य-व्याख्या म भी हम ठीक वही बात देख आये है, इसीलिए कुन्तक साहित्य के 'द्वितय धर्म' के दोनो पक्षो पर समान जोर दे गए हैं—उनके द्वारा कथित 'तत्त्व' और 'निर्मिति' ही है कालिदास के 'अर्थ' और 'शब्द'—वे ही हैं परमेश्वर एव पार्वती।*

हमने ऊपर काव्य के भावरूप (Spirit) और भवरूप (expression) के सम्बन्ध मे जो विवेचन किया है, उस समस्त विवेचन का एक ही मुख्य लक्ष्य है। उस लक्ष्य को स्पष्ट कर यो कहा जा सकता है—कालिदास के काव्य म जितने उपमा-प्रयोग (अर्थात् मोटे तौर पर अलकार-प्रयोग) है, वे कालिदास के काव्य-शरीर मे सचेतन आरोपित गुण नही हैं—वे उनकी असाधारण काव्य-शैली के ही साधारण धर्म हैं—इस दृष्टि से विचार किये बिना, महाकवि कालिदास की उपमाओं म जो चमत्कार हैं, यथायथ रूप से हम उनका आस्वादन नही कर सकेंगे।

---

* कालिदास ने 'कुमारसम्भव' म पार्वती प्रदान करने के प्रसग में महर्षि अगिरा के मुख से कहलवाया है

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि। (६।७९)

'भारती या शब्द के साथ जैस अर्थ का मिलन कराया जाता है, तुम्हारी कन्या के साथ वैसे ही महादेव का मिलन कराना उचित है।'

शब्दालंकार और अर्थालंकार का मूल रहस्य

कालिदास की उपमाओं का प्रत्यक्ष रूप से विवेचन आरम्भ करने से पहले अलकारो के सम्बन्ध मे और एक दो बातो का विचार कर हमारी कुछ धारणाओ को और भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। हम जानते हैं कि अलकार को साधारणत दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—शब्दालकार एव अर्थालकार। इन दो प्रकार के अलकारो को हम शब्द के दो साधारण धर्मों से सयुक्त कर सकते हैं, एक है शब्द का सगीत धर्म और दूसरा है शब्द का चित्र-धर्म। यह पुन उल्लेखनीय है कि हम यहाँ शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित सकीर्ण अर्थ मे नही, बल्कि उसके व्यापक अर्थ मे कर रहे हैं, जिस अर्थ मे उसकी प्रकाश-रूपता है। अनिर्वचनीय रसानुभूति को आभासित करने के प्रयास मे सबसे बडा सहायक है सगीत। हमने पहले ही देखा है कि काव्य का जो वाच्य है, वह सर्वत्र ही 'विशेष' है। वाच्य के इसी विशेषत्व को प्रकट करने के लिए भाषा को भी विशेषत्व प्राप्त करना होता है। भाषा को अपने व्यावहारिक साधारणत्व का अतिक्रमण कर असाधारण हो उठने मे यह सगीत-धर्म बहुत-कुछ सहायता पहुँचाता है। काव्य के सगीत-धर्म का प्रकाश एक तो छन्द मे होता है और दूसरे शब्दालकारो मे। शब्दालकार जहाँ कवि के वाग्-ऐश्वर्य प्रकाश की एक साडम्बर चेष्टा-मात्र रहता है, वहाँ काव्य-शरीर मे वह व्याधि-तुल्य है, भूषण नही, दूषण है। किन्तु शब्दालकार का यथार्थ कार्य है शब्द के अर्थ को विचित्र ध्वनि-तरग द्वारा विस्तृत करना। हृदय की जो अस्फुट बात भाषा मे अभिव्यक्त नही हो पाती, उसको आभासित कर देना। उपयुक्त छन्द के सग इसीलिए जब उपयुक्त शब्दालकार का योग होता है, तब इस पारस्परिक साहचर्य शब्द-शक्ति का अनन्त एव अपूर्व विस्तार होता है। कालिदास के 'रघुवश' काव्य मे देखते है कि रामचन्द्र के सीता को लेकर विमान द्वारा लका से अयोध्या लौटने के समय कवि समुद्र का वर्णन करते हुए कहता है

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी,
तमाल-ताली-वनराजि-नीला।

आभाति वेला लवणाम्बुराशे-
धारानिबद्धेव कलंकरेखा ॥

यहाँ शब्दालंकार की जो झंकार उठी है, उससे समुद्र का वर्णन सार्थक हो उठा है। 'आ'कार के बाद 'आ'कार के द्वारा समुद्र की सीमाहीन विपुलता को जैसे ध्वनि द्वारा ही मूर्त कर दिया गया है। कुमारसंभव में उमा का वर्णन करते समय कवि ने कहा है—'सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।' उद्भिन्नयौवना उमा के लावण्य की कमनीयता कुछ छन्द में, कुछ चित्र में और कुछ ध्वनि की कमनीयता में कवि ने प्रस्फुटित करने की चेष्टा की है। और अभिनन्द कवि जहाँ मेघविद्युन्मयी घनान्धकारमयी भयंकर रजनी का वर्णन करते हैं

विद्युद्दीधितिभेदभीषणतमस्तोमान्तरा सन्तत-
श्यामाम्भोधररोधसंकटवियद्विप्रोषितज्योतिषः ।
खद्योतानुमितोपकण्ठतरवः पुष्णन्ति गम्भीरताम्
आसारोदकमत्त-कीटपटली-क्वाणोत्तरा रात्रयः ॥

वहाँ गम्भीर अन्धकारमयी रजनी की भीषणता, उसमें उठने वाले तूफान की प्रचण्डता मानो शब्द ध्वनि के द्वारा ही मूर्त हो उठी है। जरा सोचने से यह साफ दिखलायी पड़ेगा कि यहाँ शब्दालंकार भी केवल कटककुण्डलादिवत् ही नहीं है, साधारण शब्द एवं अर्थ द्वारा जो प्रकट नहीं हो सकता, संगीत द्वारा, झंकार द्वारा, उसी को प्रकट किया गया है। अभिव्यंजना के इस कला-कौशल को चेष्टापूर्वक नहीं लाना पड़ता। कवि की सचेतनता के भीतर ही सर्वदा उसकी उत्पत्ति होती है, ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती, 'भोलानाथ' रूपी रस-मत्ता के भीतर ही जो स्पन्दनमयी अभिव्यंजना शक्ति निहित रहती है, यह समस्त कला-कौशल उस शक्ति की विलास-विभूति-मात्र है। भाव की सूक्ष्मता एवं अनिर्वचनीयता के भीतर ही छिपी रहती है इन सब कला-कौशलों की प्रयोजनीयता; अभिव्यंजना के समय इसीलिए भाव स्वयं ही इनका संग्रह कर लेता है। शब्दालंकार जहाँ भाव-प्रवाह की स्वच्छन्द गति के भीतर ही ध्वनि स्वाभाविक नियम से नहीं आता है वहीं वह एक कृत्रिम चाकचिक्य मात्र रह जाता है, वहाँ प्रयोजन की अपेक्षा अप्रयोजन अधिक रहता है। कवि जयदेव ने जहाँ 'मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः' प्रभृति द्वारा घन-मेघ-जाल से समावृत नभोमण्डल एवं श्यामल तमाल-तरु-समूह से अन्धकारमय वन-भूभाग के वर्णन द्वारा काव्यारम्भ किया है, वहाँ उनके शब्द की झंकार सार्थक है, किन्तु उन्होंने ही जहाँ वसन्त-वर्णन करते हुए लिखा

ललित-लवग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे ।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्जकुटीरे ।।

अथवा,

उन्मद-मदन-मनोरथ-पथिक-वधूजन-जनित-विलापे ।
अलिकुल-सकुल-कुसुम-समूह-निराकुल-बकुल-कलापे ।।

यहाँ यह स्पष्ट है कि यह भाव की स्वच्छन्द गति द्वारा प्रसूत नहीं, कवि की सचेतन चेष्टा का फल है एव शब्द की झकार यहाँ बहुत-कुछ कटककुण्डलादि के अनावश्यक प्राचुर्य एव झकार की तरह काव्य के शरीर और मन को भाराक्रान्त करनेवाली है। शब्दालकार एव अर्थालकार द्वारा केवल अनावश्यक चातुर्य दिखलाने की चेष्टा सस्कृत-साहित्य मे कुछ कम हुई हो, ऐसा नही। हमारे बँगला और हिन्दी-साहित्य मे उससे अधिक हुई है, केवल पद्य मे ही नही, गद्य मे भी। देह को स्वास्थ्यवान् एव कर्मठ बनाने के लिए व्यायामादि कर मासपेशियो को सुगठित करना उचित है, लेकिन ऐसे भी व्यक्ति ससार में दुर्लभ नही हैं जो ससार के और किसी विशेष कार्य आते ही नही, केवल मुद्गर भाँजकर दोनों हाथों की मासपेशियो की परिधि ही बढाते हैं एव जन-समाज मे नाना प्रकार की कसरत दिखलाकर वाह्-वाही लूटने की चेष्टा करते हैं। काव्य-क्षेत्र मे भी यह पहलवानी मनोवृत्ति कोई कम हो, ऐसा नहीं, लेकिन जहाँ लेखक इस पहलवानी मनोवृत्ति का परिचय देता है, वही वह अकवि है—उसकी रचना भी अकाव्य है।

हमने देखा—शब्दालकार भाषा के सगीत-धर्म के अन्तर्गत हैं। भाषा के चित्र-धर्म मे अर्थालकार आते हैं। अवश्य ही यह चित्रधर्म-सज्ञा खूब स्पष्ट नही है—इसीलिए उसकी व्याख्या की आवश्यकता है। बाहर की किसी वस्तु या घटना के स्मृतिधृत स्फुट-अस्फुट चित्र को मन के पर्दे मे जगाकर उसकी सहायता से वक्तव्य की अभिव्यक्ति करने के धर्म को ही मैंने 'भाषा का चित्र-धर्म' नाम दिया है। थोडा सोचने पर हम यह देख पायेंगे कि हम जो कुछ सोचते या समझते हैं, वह सम्पूर्ण नही तो अधिकाश ही बहिर्जगत् की वस्तु या घटना की अनुकृति की छाया मे ही। हमने अपना सम्पूर्ण ज्ञान बहिर्जगत् की अभिज्ञता द्वारा ही प्राप्त किया है या इसके भीतर मन की बहुत-सी निजस्व सम्पदा भी है—इसे लेकर दार्शनिकों एव मनोवैज्ञानिकों म यथेष्ट विवाद है, किन्तु जिन्होंने ज्ञान के भीतर मन की निजस्व सम्पदा की बात स्वीकार की है, उन्होंने भी साधारणत यह कहा है कि ज्ञान का प्राय समस्त उपकरण

ही वहिर्जगत् से संगृहीत होता है। इन्द्रियानुभूति द्वारा वस्तु के सम्बन्ध में जो चित्-प्रत्यय (Concept) होता है, उसमें मन अपनी निजस्व शक्ति द्वारा नानाविध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किन्तु ऐसा होने पर भी हमारा ज्ञान मूलतः निर्भर करता है वहिर्वस्तु या घटना की अनुभूति के ऊपर ही। हो सकता है कि आज ज्ञान के उपकरणों के भीतर वहिर्जगत् की ये प्रतिच्छवियाँ खूब स्पष्ट होकर हमारी आँखों के सामने नहीं आती; इसीलिए शायद हम लोगों का ज्ञान आज बहुत-कुछ शब्दजन्य ही प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ा विश्लेषण करने पर ही अवचेतन से भाषा में वहिर्वस्तु या घटना की ये प्रतिच्छवियाँ पुनः स्पष्ट हो जाती हैं। अपने मन के जिन भावों (ideas) को हम अमूर्त्त (abstract) समझते हैं, वे भी सम्पूर्णतः अमूर्त्त हैं कि नहीं, इस विषय में घोर सन्देह है। खोजने पर शायद उनके पीछे भी मन के अवचेतन लोक में कुछ-कुछ अस्पष्ट प्रतिच्छवियों का सधान मिल सकता है।

कुल मिलाकर हम देख पाते हैं कि हमारी ज्ञान-क्रिया सम्पूर्णतः नहीं तो, अधिकांशतः निष्पन्न होती है, वहिर्वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि में। यह तथ्य खूब स्पष्ट हो उठता है जब हम अपने मानसिक या आध्यात्मिक जगत् के संबन्ध में कोई बात कहने जाते हैं; इन सभी विषयों की बात करते समय हमें वहिर्जगत् की वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि का सहारा लेना ही पड़ता है। भाषा में निहित यह जो वहिर्जगत् की प्रतिच्छवि है, वही भाषा का चित्र-धर्म है। भाषा का यह चित्र-धर्म ही विकसित होकर सृष्टि करता है आख्यायिका एवं प्रतीकात्मक कहानियों की; वाक्य के भीतर साधारणतः उनकी परिणति अर्थालंकार के रूप में है, और शब्द-समष्टि के भीतर इस चित्र-धर्म को साधारणतः नाम मिला है मुहावरा या लोकोक्ति। भाषा में जो प्रयोग मुहावरों के नाम से परिचित है, उनमें अधिकांश का ही विश्लेषण करने पर हम देख सकेंगे कि उनमें भाषा का यह चित्र-धर्म ही है। हम एक प्रयत्न द्वारा दो कार्य सिद्ध नहीं करते, 'एक ढेले से दो चिड़ियों का शिकार करते हैं।' हम अपना काम आप नहीं करते, 'अपने चर्खे में तेल देते हैं।' हम पर हठात् विपत्ति नहीं पड़ती, 'अकस्मात् वज्राघात' होता है; अवश्य ही 'विपत्ति पड़ना', इस क्रिया के भीतर भी चित्र-धर्म है। महामूर्ख व्यक्ति को हम पुकारते हैं, 'काठ का उल्लू।' हमारा 'सयाना कौआ ढेर पर बैठता है।' हम बिना पूरा समझे अन्दाज से काम नहीं करते, 'अन्धकार में ढेला फेंकते हैं।' प्रधान व्यक्ति के निकट निष्फल निवेदन नहीं करते, 'अरण्यरोदन' करते हैं।' हम मर्म-पीड़ा नहीं पहुँचाते,

'कलेजा छेद देते हैं' (वैसे मर्म-पीडा के भीतर भी चित्र-धर्म है)। हम 'आग से खेलते' हैं, किसी के साथ किसी का 'छत्तीस' का सम्बन्ध होता है; कोई 'अपनी नाक काटकर दूसरे का अपशकुन करता है,' किसी के 'पेट में दाढ़ी' होती है; हमम से कोई-कोई 'पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर' होता है, हम 'अँगुली पकड कर पहुँचा' पकड़ते हैं, 'मरी बछिया बाम्हन के निमित्त' देते हैं, हमारे यहाँ 'खेत खाये गदहा, मार खाये जुलाहा' हुआ करता है। हम 'बालूसे तेल निकालते' हैं; 'कटे पर नमक छिड़कते' हैं, किसी को 'चारो खाने चित्त' कर देते हैं, 'नहर काटकर मगर बुलाते' हैं, जरूरत पड़ने पर 'गधे को बाप बनाते' हैं, 'अपना खाकर दूसरे की बेगार करते' हैं, लोगों की 'आँख में धूल झोंकते' हैं, किसी के 'इधर कुआँ, उधर खाई' पड़ती है, 'जागते घर में चोरी' हो जाती है, हमारे लिए अलभ्य वस्तु 'गूलर का फूल' है। 'तिल को ताड़ करना,' 'समुद्र में पानी बरसाना,' 'तेल का बैंगन होना,' 'दो नाव पर सवार होना,' 'हस्तामलकवत् देखना,' 'छछूँदर के सिर में चमेली का तेल' लगाना; 'कन्नी काटना,' 'दुम कटाकर दल में शामिल होना,'—इन सभी में है चित्र-धर्म। जरा ध्यान देने पर ही देख पायेंगे कि जहाँ

श्रौर दूसरा ग्रानन्द का तरल-प्रवाह चित्र। हमारा मन जब विपत्ति का सामना करता है, तब यह 'सामना करना' क्रिया दोनो तरफ के, मानो हथियारबन्द मन और विपत्ति का, युद्ध के लिए प्रस्तुत चित्र उपस्थित करती है। फिर कोई सुन्दरी 'गजगामिनी' होती है, किसी को हम 'अश्वगति' कहते हैं, किसी का 'मोम का शरीर' होता है, किसी की 'श्येन दृष्टि' होती है। श्येन-दृष्टि न कहकर यदि तीक्ष्ण-दृष्टि कहे, तब भी सोचना कि दृष्टि की तीक्ष्णता कैसी है, किसके अनुसार है? किसी को 'आँख उठाकर' देखते हैं, किसी-किसी की बात पर 'कान नही देते', कठिन काम मे हमारा 'मन नही लगता', सम्मान के 'बोझ से हम दब जाते' है, सुख म चेहरे पर 'मुस्कान खिलती है', दुःख मे 'साहस खो बैठते' हैं। आँसुओ की 'बाढ' भले ही न आये, यदि 'आँसू उमड ही पडे,' तो भी चित्र को हम मिटा नही सकते। हृदय मे हम 'आशा पालते' हैं और 'निराशा की चोट खाते' हैं। निराशा केवल चोट पहुँचा कर ही शान्त नही होती, उस चोट को हमे खाना भी पडता है। हम लोगो मे सभी सीधे आदमी हैं, ऐसा नही है, बहुतो का मन 'बाँका' होता है। बाँका न कहकर 'कुटिल' कहने पर भी मन की वक्र गति को ढका नही जा सकता। हममे से कुछ का मन छोटा होता है, कुछ का बडा, मन मे सकीर्णता होती है, उदारता या विशालता भी होती है—वह नीच या उच्च भी होता है, हम छोटी बात कहते हैं, बडी बात भी कहते हैं, नरम बात भी कहते है, गरम बात भी कहते हैं। काम का फल भोगने के सिवाय हमारी गति नही है। विप्लव शब्द का पहला अर्थ हम प्राय भूल बैठे हैं, किन्तु हमारा भ्रम भी टूटता है। थोडे मे ही आजकल हम लोगो का मन विषैला हो उठता है। हम आधुनिक साहित्यिक 'मरता क्या न करता' की-सी स्थिति मे पहुँच गए हैं। और अधिक उदाहरण देने से कोई लाभ नही।

सक्षेप मे, हृदय के किसी भी भाव को बाहर प्रकट करने पर उसे बाहर के साज मे सजकर ही प्रकट होना होगा। यहाँ तक कि दैहिक अनुभूतियो को भी हम बहुत बार बहिर्वस्तु या क्रिया की अनुकृति किये बिना प्रकट नहीं कर सकते। 'सिर घूमना' नामक जो हमारी शारीरिक विकृति है, उसे हम आज तक 'घूमना' की अनुकृति छोडकर और किसी रूप मे प्रकट नहीं कर सके। 'सिर भारी होना', 'सिर मे चक्कर आना', 'सिर फिरना', 'आँख जलना', 'हाथ-पैर टूटना', 'पसली चूर-चूर होना' प्रभृति स्थूल दैहिक अनुभूतियों को भी अनुकृति के अलावा और रूप नही मिल सके। 'फडकती माँग', 'कडकडाती धूप'

और 'ठनकता माथा' आदि मे जो प्रच्छन्न चित्र हैं, उनका इतिहास भी बहुतो की दृष्टि मे अगोचर नही है।

आध्यात्मिक जगत् की कोई भी बात हम जागतिक वस्तु या घटना की सहायता के बिना नही बोल सकते। उसका पहला प्रमाण यही है कि आध्यात्मिक शब्द के साथ आरम्भ मे ही जगत् शब्द बिना जोडे हम बात बोल ही नही सके। भगवान् का नाम लेने पर दार्शनिको या योगियो के मन मे उनका कौन सा स्वरूप आता है यह हम नही मालूम है, किन्तु हमारे जैसे साधारण व्यक्ति के मन मे अपने चिन्तन की पृष्ठभूमि मे, अस्पष्ट ही सही, हमारी ही तरह हाथ-पैर वाले एक जीव की आकृति प्रकृति जाग उठती है। जितने प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं उनमे किसी मे भी रूपक के बिना धर्म विवेचन नही हो सका। ब्रह्म स्वरूपतः जो भी हो, मनुष्य ने उनके साथ अपने जितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये हैं, सबके वे सब मानवीय प्रेम की उपमा पर आधारित हैं। इस तत्त्व की चरम परिणति हम वैष्णव शास्त्रो मे एव वैष्णव साहित्य मे देख पाते हैं।

कुल मिलाकर हम यह देख पाते हैं कि चित्र काव्य के भूषण-स्वरूप ही नही हैं चित्र के बिना हमारी भाषा चल ही नही सकती—हम मन के भाव व्यक्त ही नही कर सकते। सगीत एव चित्र के माध्यम से ही हमारी भाषा एकदम इन्द्रियग्राह्य हो उठती है, तब उस इन्द्रियग्राह्य भाषा के द्वारा मन के ससार को हम प्रत्यक्ष करते हैं—भाषा के माध्यम से इस प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा ही एक हृदय का रस-सम्भार दूसरे हृदय मे सक्रमित होता है।

-

कालिदास की सालंकार भाषा ही यथार्थ काव्यभाषा है

तो हमने देखा कि शब्दालंकार या अर्थालंकार, दोनों मे कोई भी काव्य का भूषण-मात्र नहीं है। कवि के मन की रसप्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिए भाषा मे निरन्तर अलंकारो का प्रयोजन होता है। वास्तव मे हमारे शब्द का अर्थ उसकी ध्वनि और चित्र-सम्पदा पर इतना निर्भर करता है कि इस समस्त संगीत, ध्वनि माधुर्य और चित्र सम्पदा को बाद देकर शब्द का एक निरपेक्ष अर्थ खोज निकालना बहुत बार कठिन हो जाता है।

'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग मे देखते हैं कि राजा दिलीप जब समस्त दिन वन-वन में वशिष्ठ की धेनु नन्दिनी को चराकर सध्या-समय आश्रम लौट रहे थे, तब रानी सुदक्षिणा—

पपौ निमेषालस-पक्ष्म-पंक्ति-
रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ (२।१९)

'अपलक', उपोषित नेत्रद्वय द्वारा राजा को पी रही थी।' राजा के साथ मुनि के आश्रम म रानी भी व्रतधारिणी थी। समस्त दिन राजा ने जगल में नन्दिनी की परिचर्या की थी, व्रतचारिणी रानी ने भी राजा की अनुपस्थिति म और कोई रूप ग्रहण ही नहीं किया। इसीलिए रानी के दोना नयन समस्त दिन के उपवास से, क्लिष्ट एव तृष्णार्त्त थे। राजा जब सन्ध्या-समय लौट रहे थे, तब सुदक्षिणा के उपवास-क्लिष्ट नयनद्वय तृष्णार्त्त की तरह अपलक उनकी रूप-माधुरी का पान कर रहे थे। रानी की दर्शनाकाक्षी समग्र तीव्रता मूर्त हो उठी है इस एक ही उत्प्रेक्षा के भीतर—उपोषित नयनो के द्वारा रानी ने राजा को केवल देखा ही नही—'पपौ'—मानो पीने लगी। यहाँ रानी की इस तीव्र, व्याकुल दर्शनेच्छा की अभिव्यक्ति करने के लिए और भाषा है ही नहीं। कवि को सीधे-सादे रूप म कहना होता, तो सम्भवत वे कहते—रानी सतृष्ण नयनों से देखती रहीं। किंतु 'सतृष्ण' शब्द का क्या अभिप्राय है?—उपर्युक्त उपमा ही इस शब्द म बीज-रूप से छिपी है।

कालिदास का समग्र काव्य पढ़ने से लगता है कि पृथ्वी मे जहाँ जितना सौन्दर्य है, उसे व्याकुल आग्रह से उन्होने भर-आँख पिया है। इसीलिए आँखों

द्वारा रूप-पान, यह कालिदास की प्रिय वचन-भंगिमा है। 'मेघदूत' के पूर्वमेघ मे देख पाते हैं, यक्ष कहता है

> त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः। (१६)

'धरणी की रूप देह को श्याम शस्य से जो नवीन मेघ सुशोभित कर देगा, उस की सजल श्याम कान्ति को जनपद वधुएँ भ्रू-विलास से अनभिज्ञ प्रीति-स्निग्ध लोचनो द्वारा आकाश की ओर मुँह उठाकर केवल पीती रहेंगी।'—इस प्रकार जनपद-वधुओ के प्रीति-स्निग्ध लोचनो द्वारा पीयमान होना, यह नवीन मेघ के लिए परम लोभ की बात है ही!

रघुवंश मे भी देख पाते हैं—रामचन्द्र सीता को लेकर विमान द्वारा लंका से जब लौट रहे हैं, तब दूर से उपकूल की शोभा देखकर कहते हैं :

> उपान्तवानीर - वनोपगूढा-
> न्यालक्ष्यपारिप्लव - सारसानि।
> दूरावतीर्णा पिबतीव खेदा-
> दमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः॥ (१३।३०)

'दूर से दिखलायी पड रहा है पम्पा सरोवर, उसके किनारो को आच्छन्न कर रखा है बेतस-वन ने। उस बेतस-वन की फाँको से अस्पष्ट रूप मे दिखलायी पड रहे हैं चंचल सारसो के झुण्ड, ऐसे पम्पा सरोवर के शान्त-श्याम जल को श्रान्त रामचन्द्र ने अंजलि भरकर नही पिया, बल्कि भर-आँख पीकर ही अधिक तृप्त हुए।'

'कुमारसम्भव' मे देख पाते हैं कि कामदेव के बाण से समाधिस्थ शिव का ध्यान टूट गया; एक मुहूर्त्त के लिए योगीश्वर शिव के प्रशान्त चित्त मे ईषत् चांचल्य की सृष्टि हुई। देखिये, उस चांचल्य की अभिव्यक्ति कालिदास ने किस भाषा मे की है

> हरस्तु किंचित् - परिलुप्तधैर्य-
> श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
> उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
> व्यापारयामास विलोचनानि॥ (३।६७)

'चन्द्रोदय के आरम्भ मे जलराशि की तरह किंचित् परिलुप्त-धैर्य होकर महादेव ने उमा के बिम्ब-फल की तरह अधरोष्ठ की ओर दृष्टिपात किया।' योगीश्वर, देवाधिदेव महादेव के योगमद मे प्रशान्त चित्त के किंचित् चांचल्य की इसकी

अपेक्षा और सुन्दर रूप से नही कहा जा सकता । शिव के ध्यान-समाहित प्रशान्त चित्त की ईषत् धैर्य च्युति जैसे चन्द्रोदय के आरम्भ मे विराट् वारिधि वक्ष की ईषत् उद्वेलता ! कवि ने कितनी सावधानी कितनी निपुणता, कितनी सूक्ष्मता से शिव के इस चित्त-विक्षोभ को भाषा दी है ! चन्द्र का उदय भी अभी तक नही हुआ, उदय के आरभिक क्षणो मे विराट् अम्बुराशि के भीतर जो ईषत्-चाचल्य होता है, केवल उसके ही द्वारा शिव के चित्त चाचल्य का कुछ आभास कराया जा सकता है । महेश्वर के ईषत् चित्त चाचल्य के साथ चन्द्रोदय के प्रारम्भ मे विशाल जलराशि के ईषत् आन्दोलन की यह तुलना काव्य की किसी वेषभूषा की परिपाटी मात्र नही है—इस चित्र के बिना भाषा कवि के भाव को अभिव्यक्त ही नही कर सकती थी । हम जिसको काव्य मे भाषा का सौन्दर्य कहते हैं, वह सचमुच भाषा की सार्थकता है, अर्थात् रसानुभूति की समग्रता को वर्ण, चित्र, सगीत मे जो भाषा जितना अधिक मूर्त्त कर सकेगी, वह भाषा उतनी ही सुन्दर एव मधुर होगी ।

और एक उपमा मे कालिदास ने विवाह की रात को शुक्लपट्टवस्त्र-परिहित महादेव की शुभ्रफेनपु ज-शोभित समुद्र के साथ, एव नववधू उमा की तट-भूमि के साथ उपमा दी है । 'अचिरोदित चन्द्र किरण फेनयुक्त समुद्र का जैसे तट भूमि के समीप अग्रसर कर देती हैं, वैसे ही वर-वेशी महादेव को परिचारकगण उमा के निकट ले आये'

दुकूलवासा स वधूसमीप
निन्ये विनीतैरवरोधरक्षै ।
वेलासकाश स्फुटफेनराजि-
र्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादै ॥ (७।७३)

महादेव के सम्बन्ध म कालिदास ने जब भी किसी उपमा का प्रयोग किया है, अत्य त सावधानी से किया है, देवाधिदेव की लोकोत्तर महिमा जिससे कहीं पर थोडी भी मलिन न हो, वरच वाच्य और व्यजना मे जिससे उस महिमा का अनन्त-व्यापी प्रसार हो, कवि ने वैसी ही चेष्टा की है । पार्वत्य वनभूमि मे अकाल वसन्त के समागम द्वारा जिस चाचल्य की सृष्टि हुई, उसम भी देवदारु वेष्टित वेदिका के ऊपर व्याघ्र चम पर आसीन योगेश्वर ध्यानस्थ रहे । लतागृह-द्वारदेशस्थ नन्दी बायें हाथ म कनकवेत्र लिये मुँह पर अँगुली रखकर सकेत द्वारा प्रमथगण को चपलता प्रकट न करने का आदेश दे रहे थे, नन्दी के उस आदेश से समस्त वृक्ष निष्कम्प, अलिसमूह निश्चल, पक्षीगण नीरव हो

गए। मृगगण भी क्रीडा परित्याग कर शान्त हुए। इस तरह समस्त वन ही मानो चित्रलिखित-सा स्तब्ध रह गया। बाहर वसन्त और कामदेव मानो मूर्तिमान चाचल्य, और योगभूमि मे अपूर्व स्तब्धता; इस परिवेश मे योगस्थ महादेव का चित्र अंकित करते हुए कालिदास ने कहा है :

अवृष्टिसरम्भ - मिवाम्बुवाह-
मपामिवाधार - मनुत्तरगम्।
अन्तश्चराणा मरुता निरोधा-
न्निवात-निष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ (३।४८)

'योगेश्वर महादेव वायुसमूह को सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध कर पर्यंकबन्ध मे स्थिर अचचल भाव से बैठे हैं, जैसे अवृष्टिसरभ अम्बुवाह हो, निस्तरग जलधि हो या निवात-निष्कम्प प्रदीप हो।' थोडा ध्यान देने पर देख सकेंगे कि वर्षणहीन मेघ के लिए कालिदास ने मेघवाची अन्य किसी शब्द का व्यवहार न कर 'अम्बुवाह' का व्यवहार किया है, जो मेघ अम्बु को ही वहन करता है एव जो किसी भी मुहूर्त्त बरस सकता है, ऐसा जलभरा मेघ मानो वर्षण-सहरण कर स्तब्ध है, 'अपामिवाधार' कथन की व्यजना भी उसी तरह है—जो समुद्र चचल जलराशि का ही आधार है, वह जैसे निस्तरग होकर अचचल है। योगेश्वर की योग-समाधि का वर्णन करने पर इसी तरह वर्णन करना पडता है, इसीलिए कालिदास की भाषा मे थोडा-सा भी हेर-फेर करने पर वाचकत्व की हानि होती है।

कालिदास ने अपनी उपमा की व्यजना द्वारा केवल देवता की महिमा को ही अनन्त व्याप्ति देने की चेष्टा की है, ऐसा नही, मनुष्य को भी उन्होंने इस कौशल से अनन्त महिमा दान की है। रघुवश मे कालिदास ने सगर्भा रानी सुदक्षिणा का वर्णन यो किया है :

शरीरसादाद् - असमग्रभूषणा
मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका
प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ (३।२)

'रानी की देह कुछ कृश हो गई है, इसीलिए अब समस्त भूषण शरीर पर धारण नहीं कर पा रही है। मुख भी लोध्रपुष्प की तरह पाण्डु हो गया है। इस रूप मे रानी को देखकर, लगता है, मानो वह अल्प-प्रकाशित चन्द्रमा-सह लुप्त-तारिका प्रभातकल्पा यामिनी हो!' इस एक उपमा द्वारा कालिदास ने

रघु के समान पुत्र की माता सुदक्षिणा के रूप का जो माधुर्य प्रकट किया है, वह साधारण भाषा द्वारा कभी प्रकट नहीं हो सकता। इस उपमा का प्रत्येक पद सार्थक है। प्रथमतः रानी सुदक्षिणा ऐसा एक पुत्र प्रसव करने जा रही है जिसके नाम से एक राजवश चिरकाल तक परिचित रहेगा; वह गर्भिणी माता मानो प्रभातकल्पा शर्वरी हैं। सूर्यरूपी पुत्र को गर्भ मे धारण कर आसन्न-प्रसवा विराट् रजनी की जैसी महिमामयी मूर्ति होती है, सुदक्षिणा की मूर्त्ति में प्रस्फुटित हो उठा है आसन्न-मातृत्व का वैसा ही गौरव! उसके गर्भ मे राजपुत्र रघु है। उस आसन्न प्रसवा सुदक्षिणा के अगो से जब विविध हीरक-रचित अलकार खिसक कर गिर पड़ते हैं तो लगता है जैसे प्रभातकल्पा शर्वरी की देह से उसके असख्य नक्षत्रो के अलकार खिसक कर गिर पडे है, और सुदक्षिणा का लोध्र-पाण्डुमुख मानो ईषत्-दीप्त शेष रजनी का चन्द्रमा हो!

रघुवश के सप्तम सर्ग मे देख पाते हैं—विभिन्न देशो से समागत राजन्यवर्ग इन्दुमती की स्वयवर-सभा मे जयमाला के प्रार्थी बन उत्सुकतापूर्वक बैठे हैं। '*विद्युत् जिस तरह सहस्रों मेघखण्डो के सहस्रो भागो मे विभक्त होकर दुर्निरीक्ष्य रूप से सुशोभित होती है, श्री भी उसी तरह राज-परम्परा मे विभक्त होकर दुर्निरीक्ष्य रूप से विशेष-विशेष राजन्य मे विशेष-विशेष प्रभा का विस्तार कर प्रकट होती थी*'.

तासु श्रिया राजपरम्परासु
प्रभा - विशेषोदय - दुर्निरीक्ष्य।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः
पयोमुचां पक्तिषु विद्युतेव॥ (६।५)

इस राजन्य वर्ग के सम्मुख राजकन्या इन्दुमती हाथ मे माला लेकर उपस्थित है। 'माला लिये वह जिस-जिस नृपति के सम्मुख जाती है, उस-उस नृपति का मुख आशा से प्रदीप्त हो उठता है, किन्तु इन्दुमती के आगे बढ़ अन्य राजा के सम्मुख चले जाते ही प्रत्याख्यात नृपति जैसे विषाद के अन्धकार मे डूब जाता है।' नृपतियो की इस आशा-सजीवनी एव विषादकारिणी इन्दुमती को कवि ने कहा है, सचारिणी दीपशिखा :

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
य य व्यतीयाय पतिवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभाव स स भूमिपालः॥ (६।६७)

तया व्याहृतसन्देशा सा बभौ निभृता प्रिये।
चूतयष्टिरिवाभ्यासे मधौ परभृतोन्मुखी ॥ (६।२)

'पार्वती शिव के निकट अपने विवाह की बात स्वयं न कह सकी, सम्मुख रहने पर भी सखियों द्वारा वह बात कहलायी, जैसे वसन्तानुरक्ता आम्रशाखा वसन्त को सम्मुख उपस्थित देखकर भी स्वयं उससे सभाषण नहीं कर सकती, वह कोयल के मुख से ही अपनी बात कहलाती है।'

रघुवंश के अष्टम सर्ग में देख पाते हैं—राजकुमार अज को राज्य-भार वहन करने के उपयुक्त देखकर राजा रघु ने आत्मनिर्भरशील एवं प्रजामण्डल में पराक्रमशील कुमार के हाथ में राजलक्ष्मी समर्पित कर स्वयं सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की किन्तु साश्रुनयन पुत्र का अनुरोध टाल न सके। रघु तब सन्यास आश्रम ग्रहण कर राजनगरी के उपकण्ठ में रहने लगे, इस प्रकार अविकृतेन्द्रिय रूप से पुत्र-भोग्या राजलक्ष्मी द्वारा सेवित होने में जो कमनीय माधुर्य है, उसे कवि ने एक उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकट किया है

स किलाश्रम - मन्त्यमाश्रितो
निवसन्नावसथे पुराद्बहि ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया
स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ (८।१४)

'पुत्रभोग्या राजलक्ष्मी की सेवा, अविकृतेन्द्रिय रघु को, अपनी पुत्रवधू की सेवा की तरह ही प्रतीत होती थी।'

राजा दशरथ जब वृद्ध हो उठे, तो उनके दोनों कानों के निकटवर्ती बाल पक गए—इसका वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं, 'यह तो ठीक बाल पकना नहीं है, कैकयी की आशंका से मानो वृद्धावस्था ही बाल पकने के छद्मवेश में राजा के कान में आकर कह गई—अब रामचन्द्र को राजलक्ष्मी प्रदान करो।'

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ (१२।२)

हमने देखा कि काव्य में उपमादि अलंकार अनावश्यक तो नहीं ही हैं, काव्य के आस्वादन में उनका स्थान गौण भी नहीं है, काफी मुख्य है। किन्तु ये उपमादि अलंकार हमारे अन्तर्निहित सूक्ष्म गंभीर भावों को भाषा में अभिव्यक्त करने में किस रूप में सहायक होते हैं—इस बात का विवेचन करने के लिए [illegible]

उपमा का मूल रहस्य—वासनालोक

बाहर जिस काव्य-लक्ष्मी को हम देख पाते हैं शब्द छन्द ध्वनि माधुर्य आदि नानाविध कला-कौशल में वह काव्य लक्ष्मी हमारे अन्त लोक में वासना रूपिणी मूर्ति धारण कर प्रतिष्ठित है। सुदीर्घ जीवन के प्रत्येक नगण्य मुहूर्त में जन्म-जन्मान्तर के पल-पल में इस विश्व ब्रह्माण्ड में जहाँ भी जो कुछ सुन्दर, जो कुछ मधुर, जो कुछ रमणीय जो कुछ वरणीय जो कुछ प्रेय जो कुछ श्रेय प्राप्त किया है उनमें से कुछ भी खो नहीं गया है—इन्द्रियों के द्वार से अन्तर्लोक में प्रवेश कर उन्होंने सृष्टि की है एक वासनालोक की। जगत् में जहाँ जो कुछ सुन्दर और मधुर है हमारा मन उसको तिल तिल संग्रह कर निर्माण करता है इस तिलोत्तमा सुन्दरी का। बाहर फिर जब किसी शुभ मुहूर्त में उस सुन्दरी को देख पाते हैं—अन्तर में स्पन्दित हो उठता है वासना-सुन्दरी का सुकुमार वक्ष—उसी वासना के उद्रेक से मुक्त हो जाता है हृदय में रस का उत्स—उसी के प्रवाह से जागता है भावसवेग—उसका ही बहि प्रकाश है काव्य। जीवन-पथ में चलते चलते कभी शायद किसी दिगन्त विस्तृत श्यामल भू-खण्ड को देखकर निविड़ आनन्द प्राप्त किया है—किसी दिन शायद समुद्र के सीमाहीन अनन्त वक्ष को देखकर उसी कोटि का आनन्द प्राप्त किया है फिर शायद स्तब्ध दोपहरी में सीमाहीन आकाश के निर्मल विस्तार के भीतर पाया है उसी एक ही कोटि का आनन्द। कौन कह सकता है चाँदनी रात में प्रेयसी के सुकुमार वक्ष के स्पर्श-सुख की निःसीमता के भीतर नहीं छिपा था वह दिगन्त विस्तृत श्यामल शस्य क्षेत्र—वह अनन्त सागर वक्ष, सीमाहीन नीलाकाश की अनुभूति की वह निःसीम निविड़ता। चन्द्र सूर्यहीन म्लान आकाश के वक्ष में जल भर मेघ की जो छल छल व्याकुलता देखी है नेत्र-[illegible] की कोरों से [illegible] बह जाने वाला ईषत् वक्रिम [illegible] की जो व्याकुलता देखी है और फिर विदा-मन्दिर प्रिया की [illegible] अश्रु-सजल आँखों में जो व्याकुलता देखी है हृदय में उन्होंने [illegible] की कोटि का स्पन्दन जगाया है। इसका अनुभूति [illegible] रूप में [illegible] है मन में विलसित [illegible] में [illegible] का [illegible]। [illegible] की यह [illegible]

एकत्रित होकर हमारी वासना का सृजन करती है। उस राज्य में एक ही अनुभूति के सूत्र म गुँथी हुई हैं समजातीय बहिर्वस्तु या घटनाएँ—एक के साथ दूसरी जैसे अविच्छिन्न रूप म मिली-जुली है। इसीलिए एक से जाग उठती है जैसे दूसरे की स्मृति। बाहर आज फिर जब 'नये दृश्य, गन्ध, स्पर्श, स ीत, नया रूप धारण कर आते हैं, मन के भीतर अविच्छिन्न भाव से भीड लग जाती है बाहर के कारण का एक अति अस्पष्ट आभास इगित लिये हुए वासना मे निहित उन लाखों अनुभूतियो के स्मृति-कणो की। आज उनका कोई स्पष्ट रूप नही है—वे सब मानो मिल जुल गए हैं हृदय की एक गभीर अनुभूति म, कालिदास ने स्वय इस सम्बन्ध म कहा है

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

'रम्य दृश्य देखकर अथवा मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी का भी जो चित्त व्याकुल हो उठता है, उसका कारण यह है कि जीवगण शायद तब जन्मान्तर की वासना म स्थिरबद्ध किसी सौहृाद को ही अनजाने स्मरण करते हैं।' कालिदास भी कहते हैं—स्मरति नूनमबोधपूर्वं—अनजाने ही अवचेतन लोक मे यह स्मरण होता है। यह अबोधपूर्व स्मरण ही वासना का स्पन्दन है। बाहर की तन्त्री मे आघात पडते ही वायुमण्डल का स्पन्दन हमारे हृदय की वासना-तन्त्री मे स्पन्दन जगा देता है, मन मे तब इन्द्रधनुष के सूक्ष्म वर्ण-वैचित्र्य का आभास लेकर जाग उठती है मानो जन्म जन्मान्तर की स्मृति—उसी से होता है गभीर रस सचार। हमारे कला के रसास्वादन म सर्वत्र ही एक प्रच्छन्न स्मृति रहती है। इस विश्व सृष्टि को मानो कितनी बार कितने ही प्रकार से देखा है! वह सम्पूर्ण निरीक्षण, सम्पूर्ण अनुभूति, मानो पुन मिल गई है हमारे शरीर-मन के अणु-परमाणु म। बाहर आज जिसका अति क्षुद्र-तुच्छ देखते हैं, भीतर कितनी स्मृतियाँ समेटे कितना वृहत् होकर हमारे हृदय पर छाया हुआ है उसका ज्ञान हम लोगो को ही नही है। कालिदास न जिसको अबोधपूर्व स्मरण कहा है वह इसी वासना की स्मृति है। कविगण जो विश्व-सृष्टि को साधारण व्यक्ति की अपेक्षा बहुत गम्भीर, बहुत सुन्दर रूप म देखते हैं उसका मूल कारण है वासना का पार्थक्य। जगत् एव जीवन के सम्बन्ध मे कवि जिस वासना को लेकर जीवन ग्रहण करते हैं, वह वासना

साधारण व्यक्ति की वासना से बहुत गम्भीर है, इसलिए उनकी अनुभूति भी बहुत गम्भीर होती है। रवीन्द्रनाथ ने अपने 'कडी ओ कोमल' काव्य-ग्रन्थ मे 'स्मृति' कविता मे कहा है

ओइ देहपाने चेये पडे मोर मने
येन कत शत पूर्व जनमेर स्मृति ।
सहस्र हाराए सुख आछे ओ नयने,
जन्म-जन्मा तेर येन वसन्तेर गीति ।
येन गो आमारि तुमि आत्म-विस्मरण,
अनन्तकालेर मोर सुख दु ख शोक
कत नव जनमेर कुसुम कानन,
कत नव आकाशेर चांदेर आलोक ।
कत दिवसेर तुमि विरहेर व्यथा,
कत रजनीर तुमि प्रणयेर लाज,
सेइ हासि सेइ अश्रु सेइ सब कथा
मधुर मूरति धार देखा दिल आज ।
तोमार मुखेते चेये ताइ निशिदिन
जीवन सुदूरे येन ह'ते छे विलीन ॥

अर्थात्, 'उस देह को देखकर मेरे मन मे सैकडो पूर्वजन्म की स्मृतियाँ जाग उठती हैं। हजारो खोये हुए सुख उन आँखो मे हैं, मानो जन्म-जन्म के वसन्त के गीत हो। जैसे तुम मेरे ही आत्म विस्मरण हो, मेरे अनन्त काल के सुख-दु ख शोक हो, कितने नवीन जन्मों के कुसुम-कानन हो, कितने नवीन आकाशों के चन्द्रालोक हो। कितने दिनो की तुम विरह-व्यथा हो, कितनी रातो की तुम प्रणय की लाज हो। वही हँसी, वही आंसू, वही सब बातें मधुर मूर्ति धारण कर आज दिखलायी पडी। इसीलिए रात दिन तुम्हारे मुख को देखकर जीवन जैसे सुदूर मे विलीन हो रहा है।' इतनी पूर्व स्मृतियाँ, इतनी वासना, अपने में समेटे होने के कारण ही वास्तविक प्रिया कवि के निकट इतनी सुन्दर एव मधुर हो उठती है। 'चैताली' की 'मानसी' कविता मे भी रवीन्द्रनाथ न कहा है—'नारी की सुन्दरता एव महिमा केवल उसकी वास्तव सत्ता मे ही नहीं है, नारी पुरुष की 'मानसी' है

शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी !
पुरुष गडेछे तोरे सौन्दर्य सचारि

आपन अन्तर ह'ते। बसि कविगण
सोनार उपमासूत्रे बुनिछे वसन।
सँपिया तोमार 'परे नूतन महिमा
अमर करेछे शिल्पी तोमार प्रतिमा।
.. ..

पडेछे तोमार परे प्रदीप्त वासना,
अर्धेक मानवी तुमि अर्धेक कल्पना ॥

(अर्थात्, ओ नारी! तुम केवल विधाता की ही सृष्टि नही हो, पुरुष ने अपने अन्तर से सौन्दर्य सचार कर तुम्हे गढा है। कवियो ने सोने के उपमा सूत्र से तुम्हारा वस्त्र बुना है। कलाकार ने तुम्हे नूतन महिमा समर्पित कर तुम्हारी प्रतिमा को अमर किया है। तुम्हारे ऊपर प्रदीप्त वासना पडी है, तुम आधी मानवी हो, आधी कल्पना हो!)

नारी की यह जो मानसी मूर्ति है, वही है उसकी वासनामयी मूर्ति। कवि उसके सम्बन्ध मे जितनी उपमाओ के बाद उपमाएँ देते हैं, वे सब उपमाएँ ही उसकी वासना से गृहीत है। वासना के भीतर ही सब उपमाओ की उत्पत्ति होती है। काव्य की नारी बहुत-कुछ वासनामयी नारी है। रवीन्द्रनाथ ने काव्य की नारी के सम्बन्ध मे जो बात कही है वह केवल काव्य की नारी के सम्बन्ध मे ही नही, समस्त काव्य जगत् के सम्बन्ध मे लागू होती है। काव्य का जगत् वास्तविक जगत् नही है—वह मनुष्य की मानसी सृष्टि है—वासनामयी मूर्ति है—मनुष्य की स्मृतियो की दुनिया है।

यह स्मृति कई प्रकार की है। मनुष्य के हृदय मे जो गभीरतम स्मृति है उसे मनुष्य की वासना कहा जा सकता है, वह स्मृति 'अबोधपूर्व' है। इस वासना के एक परत ऊपर जो स्मृति है, उसे हम सस्कार कह सकते है। वह भी—वासना की तरह गम्भीर एव अबोधपूर्व न होने पर भी—हमारे मन की ऊपरी सतह पर नही आता। मन की ऊपरी सतह पर तो जो आती है, परन्तु देशकालादि द्वारा परिच्छिन्न नही होती, ऐसी अस्पष्ट स्मृति का नाम दिया जा सकता है 'प्रमुष्टतत्ताक स्मृति'। 'प्रमुष्ट' शब्द का अर्थ है अपहृत या लुप्त 'तत्ता' शब्द का अर्थ है वह-वह वस्तु। प्रमुष्टतत्ताक स्मृति का अर्थ वह स्मृति है जिसमे स्मरण तो रहता है, किन्तु क्या स्मरण हुआ, इसका बोध नही रहता। यदि जब अपनी खिडकी से विराट् प्रशस्त मैदान की ओर देखता है, तब उसने यदि और भी मैदान पहले देखे हो, तो वे उसे याद आ जाते हैं, इसे ही स्मरण

कहा जाता है, किन्तु जब किसी परिचित मैदान की बात याद नहीं आती, अथच पूर्वानुभूत एक प्रशस्तता का भाव मन मे उमड आता है, तब उसे कहा जा सकता है प्रमुष्टतत्ताक स्मृति। इस प्रमुष्टतत्ताक स्मृति के पीछे रहता है सस्कार। सस्कार मन की ऊपरी सतह पर नहीं उठता, वह एक परत नीचे रहता है। इस सस्कार के भीतर उसी तरह का मैदान देखकर नाना विचित्र अवस्थाओं मे, नाना विचित्र व्यवस्थाओं मे मित्रों के साथ चाँदनी रात मे नदी किनारे पहले जिस आनन्द का अनुभव किया था, वह सचित हो, एक जगह पिण्डीभूत हो, स्मृति की भूमि को अव्यक्त भाव से रसपूरित कर देता है। इस प्रमुष्टतत्ताक स्मृति और सस्कार का सयुक्त नाम वासना है।"*

तो हम देखते है कि गहराई के आधार पर हम स्मृति के ऐसे कई भाग कर सकते है। प्रथम है साधारण स्मरण। मनुष्य की मानसिक वृत्तियो के भीतर कुछ ऐसे धर्म है, जिनके द्वारा मन सदृश वस्तुओं की अनुभूति का अथवा किसी रूप मे परस्पर सम्बन्ध-युक्त वस्तुओं की अनुभूति को एकत्र ही धारण कर सकता है। मन के भीतर इस तरह नाना प्रकार से परस्पर सयुक्त होने के कारण ही एक वस्तु या घटना की अनुभूति सजातीय अनुभूतिदायक वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि को मन मे जगा सकती है। यही साधारण स्मरण है। इस साधारण स्मरण के बाद है प्रमुष्टतत्ताक स्मृति—देश-काल-पात्र का स्पष्ट गुण-वर्जित एक अस्पष्ट स्मरण। इसके बाद है सस्कार—फिर गम्भीरतम स्मृति या हमारी वासना।

(उपमा-प्रभृति अर्थालकारो के पीछे भी किसी न किसी प्रकार की स्मृति रहती है। स्मृति-वैचित्र्य से ही अलकार मे वैचित्र्य आता है। इसलिए देख पाते है कि इस स्मृति के माध्यम से उपमा-प्रभृति अर्थालकार काव्य के मूल धर्म के साथ ग्रथित हो गए है।)

हमने देखा कि भाषा की सहायता से हम जिसे काव्य मे रूपान्तरित करना चाहते है, वह कोई एकदम बाह्य वस्तु या बाह्य घटना नहीं है—वह किसी बहिर्वस्तु या घटना का अवलम्बन कर हमारे चित्त की वासना का जो उद्रेक है, वही है। इस वासना की कोई स्पष्ट मूर्ति नहीं है, इसीलिए उसे स्पष्ट रूप से किसी भाषा की सहायता से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए जब किसी वासना का उद्रेक होता है, तब हमने जिस प्रकार के वस्तु-समूह द्वारा

* साहित्य-परिचय—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, पृष्ठ १८-१५

उस प्रकार की वासना प्राप्त की है, उस प्रकार की समस्त वस्तुओं का चित्र अंकित कर उसे बाहर प्रकट करना चाहते है। तभी आती है उपमा के बाद उपमा—उत्प्रेक्षा के बाद उत्प्रेक्षा—मानो इस तरह, मानो इस तरह—किन्तु ठीक किस तरह—वासना की उस मूर्ति को कवि स्वय ही मानो प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। 'कादम्बरी' का कवि केवल 'इव' के बाद 'इव' बैठाता जाता है—किन्तु फिर भी मानो वासना के रग को किसी भी प्रकार से बाहर अंकित नही कर पा रहा है—कोई भी रंग मानो उस वासना के रंग के समान नही हो रहा है। बहिर्वस्तु या घटना के अवलम्बन द्वारा कवि के मन में जो वासना जाग उठती है, उसी वासना का फिर सहृदय पाठक के मन में उद्रेक हो उठता है भाषा के माध्यम से। इसीलिए कवि पाठक के सम्मुख सजातीय चित्र के बाद चित्र उपस्थित कर संगीत एव चित्र मे उस वासना को जगाता है। तब वक्तव्य वस्तुओ को बहुत बड़ा बनाकर, बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहना पड़ता है—उसे विचित्रतापूर्ण बनाकर उसका आभास देना पड़ता है। पहले देख आये है कि चित्र के बाद चित्र अंकित करने के लिए कवि को नये सिरे से सृष्टि को नहीं देखना पड़ता, साधर्म्य के योगसूत्र के कारण ही एक के बाद दूसरा चित्र जुड़ता जाता है। इसीलिए कवि की कल्पना उसकी पूर्वानुभूति के ऊपर बहुत अधिक निर्भर करती है। इस पूर्वानुभूति को बाद देकर मन नये सिरे से कुछ गढ़-रचना नही सकता। इस तरह ही समस्त अर्थालंकारो की सृष्टि होती है; इस तरह ही वे भाषा के दैन्य को बहुत बड़ी मात्रा मे दूरकर हृदय की वासना के उद्रेक से उत्पन्न भाव-सवेग को बाहर प्रकट करने मे सहायता पहुँचाते है।

हम पहले ही देख आये है कि सस्कृत के अलकार-ग्रन्थो मे हम जितने प्रकार के अर्थालंकारो का सधान पाते है, सबके पीछे एक मूल सत्य है - वस्तु के साथ वस्तु का कोई-न-कोई साधर्म्य या सामान्य गुण। वस्तु का प्रकृतिगत यह साधर्म्य ही मन के भीतर सजातीय अनुभूति की सृष्टि करता है। इन अनुभूतियो के सस्कार एव प्रसुप्तस्तात स्मृति एकत्र हो जिस वासना की सृष्टि करते है, उसी वासना के भीतर समधर्मी समस्त वस्तुएँ सूक्ष्म बीजरूप मे विधृत रहती है। यही मनोराज्य के भीतर इन समस्त समधर्मी वस्तुओ मे निहित रहता है एक सूक्ष्म योग-सूत्र। यह सूक्ष्म योग-सूत्र ही है समस्त अर्थालंकारों का मूलभूत कारण-स्वरूप; इसी से नाना रूप-वैचित्र्यों मे उत्पन्न हुए है अर्थालंकारो के विभिन्न भेद।

हमने कहा है कि कवि जहाँ नारी-सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहाँ वह

नारी कोई वास्तविक नारी नहीं होती, किसी वास्तविक नारी के अवलम्बन से अन्तर में जो वासनामयी नारी मूर्ति जाग उठती है, उसी वासनामयी नारी-मूर्ति को कवि सुर पर सुर, रेखा पर रेखा, रंग पर रंग लगाकर प्रकट करने की चेष्टा करता है। विश्व-सृष्टि में जहाँ जो कुछ भी कमनीय और मधुर है, उसके द्वारा ही प्रियतमा का रूप वर्णन करता है। 'मेघदूत' काव्य के उत्तर मेघ मे यक्ष मेघदूत का अपनी विरहिणी प्रिया के निकट वह सन्देश पहुँचाने का विशेष अनुरोध करता है

✓ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी - प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू विलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ (४६)

अर्थात् —'हे प्रिय! श्यामा लता में तुम्हारे अंग, चकित हरिणी की दृष्टि में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में तुम्हारा आनन सौन्दर्य, मयूर पुच्छ में तुम्हारा केशपाश, नदी की लघु लघु ऊर्मियों में तुम्हारा भ्रू विलास देखना चाहा है, किन्तु हाय! किसी भी वस्तु में तुम्हारा सादृश्य नहीं मिला।

यक्ष मेघदूत से कहता है— यह जो मैने श्यामा लता में अपनी प्रियतमा का अंग लावण्य खोजने की चेष्टा की है चकित हरिणी के दृष्टिपात में उसकी चंचल दृष्टि को देखना चाहा है चन्द्रमा में उसके मुख की उज्ज्वलता, मयूर-पुच्छ में उसका केश-सम्भार एवं नदी की छोटी तरंगों में जो उसके भ्रू विलासों

---

१ इन्दुमती के वियोग से कातर अज की विलापोक्ति से तुलनीय—
कलमन्यभृतासु भाषितं
कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं
पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां
निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं
हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥
(रघुवंश ८।५९-६०)

का सधान करना चाहा है, उससे ही शायद मेरी प्रियतमा मेरी धृष्टता देख कर अत्यन्त रुष्ट हो गई है—क्योंकि इनमे से किसी के भी साथ उसके किसी अग के लावण्य की तुलना नही हो सकती। किन्तु मेघ ! तुम उससे अनुनयपूर्वक कहना कि स्वय ही अपनी इतनी बडी भूल के लिए दु खित हूँ। हन्त ! सचमुच मैं इनमे से किसी म भी उसका जरा-सा भी अग-लावण्य नही पा सका। विरही यक्ष की यह जो अलकापुर-स्थित विरहिणी प्रियतमा है, वह वहुत कुछ यक्ष की वासना की प्रियतमा है। इसीलिए वाहर कही भी आज मानो उसका और कोई साहश्य नही मिलता—भिखारी नेत्र मानो व्यर्थ ही दर-दर ठोकर खा रहे है।'
'कुमारसम्भव' मे उमा का रूप वर्णन करते समय कालिदास को कितने रगो मे रग घोलकर चित्र पर कूँची से अकित करने पडे है

उन्मीलित तूलिकयेव चित्र
सूर्यांशुभिर्भिन्न - मिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्त नवयौवनेन ॥ (१।३२)

नवयौवन के उद्गम के कारण उमा का जो रूप अभिव्यजित हो उठा, वह मानो तूलिका द्वारा अकित एक चित्र हो। नवयौवन के स्पर्श म उसके अगो का लावण्य जैसे सूर्य-किरणो के स्पश से उद्भिन्न अरविन्द की शोभा हो।'
'तूलिकयव चित्र' कहने से तात्पर्य यह ह कि चित्र-शिल्पी जिस तरह अपनी इच्छानुसार रेखाओ, तथा वर्ण वैचित्र्य द्वारा अपनी मानस-सुन्दरी को रूप दे सकता है, विश्व-शिल्पी विधाता न भी ठीक उसी शिल्पी की तरह ध्यानसमाहित हो अपनी मानसी नारी को ही रेखा की सूक्ष्मता एव वर्ण की मधुरता द्वारा मूर्त किया है। उमा का रूप-वर्णन करते समय राजा दुष्यन्त कहते है

चित्रे निवेश्य परिकल्पित-सत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ॥

'लगता है विधाता ने पहले इस चित्र म अकित किया जहाँ जिस रेखा, जिस वर्ण और जिस भगी का प्रयोजन था, पहल उन सबको इच्छानुसार चित्र मे सन्निविष्ट किया, बाद म मानो उस चित्र का ही प्राणदान कर दिया।' अथवा लगता है कि यह देह मानो किसी भौतिक उपादान द्वारा गठित नहीं है, जैसे विधाता ने पहले अपने चित्त-ध्यान म इस देह का दर्शन किया और फिर

मानस-रूपोच्चय द्वारा मन ही मन इस अपरा स्त्री-रत्न की सृष्टि की ।' शकुन्तला यहाँ केवल दुष्यन्त की ही कामना की प्रतिमूर्ति नहीं है, वह मानो विधाता पुरुष की ही वासना की प्रतिमूर्ति है ।

'कुमारसम्भव' मे उमा का रूप वर्णन करते हुए कवि कहता है—'उमा के चरण-युगल जब पृथ्वीतल पर पडते है, तब उनके अँगूठो की नखकान्ति से ऐसी आरक्तिम प्रभा विच्छुरित होती है कि लगता है मानो पृथ्वीतल पर सचारमान दो स्थल पद्म हो'

> अभ्युन्नताङ्गुष्ठ - नख - प्रभाभि-
> निक्षेपणाद् - रागमिवोद्गिरन्तौ ।
> आजह्रतुस् तच्चरणौ पृथिव्या
> स्थलारविन्द - श्रियम - व्यवस्थाम् ॥ (१।३३)

उमा जब चलती, तब लगता, 'सा राजहंसैरिव सन्नताङ्गी' । उद्भिन्न यौवना किशोरी की ईषत्-वक्रिम ग्रीवा भगी मे भी लगता मानो 'राजहंसैरिव सन्नताङ्गी' । फिर 'उमा जिस दिन महादेव की तपस्या भग करने के लिए चली, उस दिन उनके अगो मे अशोक कुसुम पद्मरागमणि की भर्त्सना कर रहे थे, कर्णिकार-पुष्पो ने स्वर्ण की द्युति छीन ली थी—सिन्धुवार-सुमनो से उनकी मोतियो की माला गूँथी गई थी— इस तरह बसन्त का पुष्प-सभार अगो पर धारण किये उमा चल रही थी' ।

> अशोक - निर्भर्त्सित - पद्मराग-
> माकृष्ट - हेमद्युति कर्णिकारम् ।
> मुक्ता - कलापीकृत - सिन्धुवार
> वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती ॥ (३।५३)

इस 'वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती' कथन म मानो वाच्यार्थ के साथ ही एक सुकुमार ध्वनि बज उठी है । अशोक, कर्णिकार एव सिन्धुवार-पुष्पो से सज्जित उमा तो 'वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती' है ही , किन्तु उसके साथ ही साथ मानो ध्वनित हो उठे है अग अग म नवयौवन के वासन्ती फूल ! शकुन्तला के अग-अग म कुसुम की तरह यौवन खिल उठा है

> अधर किशलयराग
> कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
> कुसुममिव लोभनीय
> यौवनमगेषु सन्नद्धम् ॥

"अधर मानो नवोद्गत पल्लव की तरुणिमा है वाहु-युगल मानो कोमल विटप है और कुसुम की तरह प्रस्फुट यौवन मानो समस्त अंगों में दृढ़तापूर्वक बँधा पड़ा है।

उमा जब वसन्त पुष्पाभरणों से भूषित हो सचरण कर रही थी तब लगता था

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्प स्तवकावनम्रा
सचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ (३१५४)

स्तनद्वय के भार से स्पष्ट अवनमित तरुण अरुणवत् रक्तवर्ण वस्त्रों से परिहित पार्वती मानो प्रचुर पुष्पस्तवक से अवनम्र सचारिणी पल्लविनी लता हो। उत्प्रेक्षा का समस्त ध्वनि केवल अत्यन्त मनोहर ही नहीं है इसका प्रत्येक शब्द सार्थक है। एक ओर स्तन भार के कारण कुछ झुकी हुई नवयौवना उमा दूसरी ओर पर्याप्त पुष्पों के स्तवकभार से विनम्र लता एक ओर उमा के वस्त्रों का तरुणार्क राग दूसरी ओर पल्लविनी के नव किसलयों की आरक्तिम वर्णच्छटा और गतिशीला उमा के कृश अंगों की भंगिमा मानो सचारिणी पल्लविनी की लास्य भंगी हो।*

महेश्वर द्वारा प्रत्याख्यात होने पर उमा ने अपने नवयौवन के रूप-सभार की स्वयं ही अपने हृदय से निन्दा की थी। अपनी अवन्ध्यरूपता के लिए पार्वती ने कठोर तपस्विनी की मूर्ति धारण की। तब मानो पुनः ग्रहण करने की इच्छा से उमा अपने शरीर का समस्त रूप माधुर्य एक एक वस्तु या प्राणी को सौंप गई

पुनर्ग्रहीतु नियमस्थया तया
द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं
विलोलदृष्ट हरिणाङ्गनासु च ॥ (५।१३)

तन्वी लतिकाओं को उमा अपना विलास विभ्रम सौंप गई और चचल हरिणी को अपने नेत्रों की चचल चितवन।

*तुलनीय—रम्भा तटाभावनता न नवा
स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम्। (रघुवंश १३।३२)

अवश्य ही इससे भी अधिक सौकुमार्य प्रकट हुआ है उमा के प्रथम यौवन-वर्णन के समय । यहां कहा गया है

प्रवात - नीलोत्पल - निर्विशेष-
मधीरविप्रक्षित - मायताक्ष्या ।
तया गृहीत नु मृगांगनाभ्य
स्ततो गृहीत नु मृगांगनाभि ॥ (१।४६)

आयताक्षी उमा की वायु विकम्पित नीलोत्पल की तरह जो चकित चितवन है वह उन्होंने मृगांगनाओं से ग्रहण की थी या मृगांगनाओं ने ही उनसे ग्रहण की थी ? यहां उपमा द्वारा व्यंजित जो साधर्म्य है वह सन्देह द्वारा समधिक चमत्कार पूर्ण हो गया है ।

विवाह के पूर्व मंगलस्नाता स्वामिमिलन-योग्या धौतवसना पार्वती शोभित हो रही थी मेघवारिवर्षण से अभिषिक्ता विकसित शुभ्र काश शोभिता वसुधा की ही तरह

सा मगलस्नान - विशुद्धगात्री
गृहीतपत्युद्गमनीय - वस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्य - जलाभिषेका
प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ (७।११)

सादृश्य की अपेक्षा यहां व्यंजना का चमत्कार लक्षणीय है । महादेव और उमा का मिलन कुमार सम्भव के लिए है । माता धरित्री वर्षा में स्नान करती हैं तदुपरान्त शरद् में काश-कुसुम के रूप में धौत वस्त्र धारण करती है । उमा का शिव से मिलन और कुमार सम्भावना की अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण व्यंजना प्रस्फुटित हो उठी है धरित्री के साथ उमा का इस उपमा में । उसके बाद देखते हैं विवाह से पूर्व सखियों द्वारा सज्जिता पार्वती को

सा सम्भवद्भि कुसुमैर्लतेव
ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानै-
रामुच्यमानाभरणा चकाशे ॥ (७।२१)

नाना आभरणों से भूषिता उमा मानो एक कुसुमित लता हो—मानो नक्षत्रो-द्भासित रजनी हो—मानो विहग शोभिता तटिनी हो ।

तदुपरान्त देखते हैं

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा
पर्याप्तचन्द्रव शरत - त्रियामा ।
नव नवक्षौमनिवासिनी सा
भूयो बभौ दपरणमादधाना ॥ (७।२६)

नवदुकूल निवासिनी और दपणहस्ता पार्वती मानो सफेनपुञ्ज समुद्र वेला हो—मानो परिपूर्ण चन्द्र से शोभिता शरत् रजनी हो। यह अच्छी तरह समझ म आता है कि कवि चित्त की विराट अनुभूति म नारी सौन्दय एव विश्व सौन्दय मिल जुलकर एक हो गए है।

विवाह के बाद पुरोहित ने वर वधू हर पार्वती स यज्ञ सम्पन्न कराया। इस यज्ञ-काय म आचार पालन करते समय लाज धूम स वधू पार्वती क कपोल ईषत् घर्माक्त और अरुण वर्ण हो उठे नयना का कृष्णाजन राग स्फीत हो गया एव यवाकुर विरचित कर्णाभरण म्लान हो गए। यन प्रतप्ता पार्वती स पुरोहित न कहा—वत्स यह वह्नि तुम्हारे विवाह की साक्षी है अब तुम अविचारित चित्त स पति महादेव क साथ धर्म काय का अनुष्ठान किया करना। यथा त म पुरोहित की यह वाणी पार्वती को कैसी लगी

आलोचनान्त श्रवण वितत्य
पीत गुरोस्तद्वचन भवान्या।
निदाघ - कालोल्वण तापयेव
माहेन्द्रमम्भ प्रथम पृथिव्या ॥ (७।८४)

नत्रा की कोर तक है विस्तृत कर्णयुगल जिनके एसी पार्वती मानो साग्रह उस कथन का एस पीने लगी जैसे प्रथम पतित वृष्टि जल को निदाघ सतप्त पृथ्वी पीती है।

उमा क अङ्ग म जो भाव भगिमारूपी पुलक है उस कालिदास न एक उपमा म अपूर्व रूप प्रदान किया है

विवृण्वती शैलसुतापि भाव
मर्ग स्फुरद्बालकदम्बकल्प । (३।६८)

उमा क अगा म जो भाव भगिमा है वह मानो विकसित बाल कदम्ब है। भवभूति न भी सीता के वर्णन म इस उपमा का ग्रहण किया है। वहाँ प्रिय स्पर्श-सुख स सीता का स्वेदयुक्त रोमाचित एव कम्पित देह की पवनान्दोलित नववर्षा स सिक्त स्फुट कोरक कदम्ब शाखा क साथ तुलना की गई है

सस्वेदरोमाचित - कम्पिताङ्गी
जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भ प्रविधूतसिक्ता
कदम्बयष्टि स्फुटकोरकेव ॥

परवर्ती काल के वैष्णव कवि गोविन्ददास ने महाप्रभु श्री चैतन्य के भाव पुलक का वर्णन करते हुए इस उपमा का चमत्कारपूर्ण व्यवहार किया है।*

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में देख पाते हैं—आलवाल को जल से सींचती हुई शकुन्तला से अनसूया कहती है—'हला सउन्दले तुवत्तो वि ताद कण्णस्स इमे अस्समरुक्खा पिअदरे त्ति तक्केमि, जेण णोमालिया-कुसुम-पेलवा वि तुम आलवालपूरणे णिउत्ता ।'—अर्थात् 'सखि शकुन्तले ! मुझे लगता है कि ये आश्रम के वृक्ष तात कण्व को तुम्हारी अपेक्षा भी प्रियतर हैं, क्योंकि नव मालिका कुसुम-कोमला, तुम्हें भी इनके आलवालपूरण के लिए नियुक्त किया है।' अनसूया के इस एक परिहास वचन मात्र से ही मानो नवयौवना शकुन्तला का 'णोमालिया कुसुम पेलवा' रूप उद्भासित हो उठा। इसके दूसरे क्षण ही देख पाते हैं, शकुन्तला कह रही है—'सखि अनसूये ! प्रियम्वदा ने वल्कल बहुत कसकर बाँध दिया है, तुम जरा ढीला कर दो।' प्रियम्वदा कुछ हँसकर उत्तर देती है—'अपने उद्भिन्न यौवन को ही दोष दो, मुझे क्यों देती हो !' यह शकुन्तला ही तो 'सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यम्' है ! वल्कल-परिहिता शकुन्तला के सम्बन्ध में राजा दुष्यन्त ने कहा था

सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

'शैवाल द्वारा आवृत होने पर भी कमल रम्य रहता है, पूर्ण चन्द्र की शोभा कलंक चिह्न के रहने से भी विकसित होती है, किन्तु 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी'—शकुन्तला की तन्वी देह-यष्टि मानो वल्कल से आवृत होने पर अधिक मनोज्ञ हो उठी है।' स्वभाव-सुन्दर वस्तु निराभरण होकर, असज्जित

---

*नीरद नयने नीर घन सिञ्चने
पुलक-मुकुल अवलम्ब ।
स्वेद मकरन्द बिन्दु बिन्दु चूयत
विकसित भावकदम्ब ॥

स्थान मे रहने पर भी केवल अपने सौन्दर्य की रक्षा करती है, ऐसा नही, बल्कि अयत्नरक्षित भाव से विजातीय वस्तु के सस्पर्श म उसका स्वभाव-सौन्दर्य मानो अपूर्व चारुता प्राप्त करता है। मन की पृष्ठभूमि म वहाँ परस्पर तुलना-जनित पार्थक्य का बोध रहता है—इस पार्थक्य के कारण ही वह अधिक मनोज्ञ हो उठती है। कहाँ कुसुम कोमल शकुन्तला का नवयौवन का दुर्लभ तनु, और कहाँ तरुलतावृत मुनि का आश्रम—कहाँ वल्कल परिधान और जलपूर्ण कलशी के भार स पीडित हो आलवाल म जल सेचन! किन्तु तो भी लगता है कि नगर की उद्यान-लता स 'इयमधिकमनोज्ञा'। इसीलिए सखियो के साथ आलवाल म जलसिचन करती हुई शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त न जो कहा था—'दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभि'—अर्थात् इन वनलताओ ने समस्त नागरिक उद्यान लताओ को बहुत पीछे छोड दिया है—यह अत्यन्त सत्य कथन है।

'कुमारसम्भव' म जटावल्कल धारिणी उमा क सम्बन्ध म कवि ने कहा है

यथा प्रसिद्धैर्मधुर शिरोरुहै
जटाभिरप्येवमभू - त्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पकज
सशैवला - सगमपि प्रकाशते ॥ (५।६)

'उमा का आनन सँवारे हुए केश गुच्छ स जैसा शोभित होता था, जटा स भी वैसा ही शोभित हुआ। कमल केवल भ्रमर के सग ही शोभित होता है, ऐसा नही है—शैवाल के साथ भी उसकी शोभा वैसी ही रहती है।'

दुष्यन्त की स्मृति म जाग उठन वाली मनोमयी शकुन्तला मानो एक अनाघ्रात पुष्प है, मानो नख द्वारा अच्छिन्न किसलय है मानो अनाविद्ध रत्न है, मानो अनास्वादित रस मधु ह, मानो पुण्यराशि का मूर्तिमान अखण्ड फल है।

अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै-
रनाविद्ध रत्न मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥

यह केवल फूल के साथ, किसलय क साथ, रत्न या मधु क साथ शकुन्तला की तुलना-मात्र नही है, प्रत्येक उपमा क पीछे है राजा की उन्मथित वासना का स्पन्दन! शकुन्तला का रूप दुष्यन्त की आँखो म मानो किसर की वासना

की प्रतिमूर्त्ति है—वह परम लोभनीय है। शकुन्तला के सौन्दर्य की समग्र लोभनीयता उद्भासित हो उठी है। इन उपमानो के इन्ही कुछ विश्लेषणो मे, मानो अनाघ्रात पुष्प—अच्छिन्न किसलय—अनाविद्ध रत्न—अनास्वादित रस मधु।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक म मालविका के रूप के बारे म राजा अग्निमित्र कह रहे हैं—

पाण्डु गण्डस्थल एव परिमित आभरणा म युक्त मालविका मानो 'माधव परिणत पत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता' हो, अर्थात् 'मानो वसन्त के पाण्डुर–परिणत-पत्रो एव कुछ फूलो से युक्त कुन्दलता हो।

अन्यत्र भी अग्निमित्र ने मालविका के सम्बन्ध म कहा है

अनतिलम्बि - दुकूलनिवासिनी
लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।
उडुगणैः - रुदयोन्मुख - चन्द्रिका
हृतहिमैरिव चैत्र - विभावरी ॥ (५।३५)

'अनतिलम्बि दुकूल वसन परिहिता, अल्पाभरण सज्जिता मालविका को देखकर ऐसा लगता है मानो उदयोन्मुख मुखचन्द्रिका लिये कतिपय नक्षत्रो स भूषिता तुहिन विहीना मधुयामिनी हो।' उदयोन्मुख चन्द्र के आनन से शोभित मधुयामिनी के साथ शुभ्र दुकूलवसन-परिहिता, परिमितभूषणा युवती नारी की रहस्यमयी मूर्ति हमारी वासना क भीतर एक होकर डूबी हुई है, इसीलिए काव्य म उसी वासना के रूपायन म उन्ह हम एस अविच्छिन्न रूप म पाते है। सहृदय पाठक भी ऐसे समधर्मा चित्र एक क बाद एक जितने देखगे, उनकी वासना म भी उतन ही स्पन्दन जागेंगे—उतना ही होगा उनके हृदय म रसोद्रेक और उनका काव्यास्वादन भी उतना ही सार्थक होगा।

यह जो उपमा के बाद उपमा, उत्प्रेक्षा के बाद उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक के बाद व्यतिरेक का समावेश कर कवि ने सुन्दरी नारी की देह सुषमा का परिचय देन की चेष्टा की है, तब भी कवि को तृप्ति नही हुई—कवि कभी यह बात नहीं कह सकता कि सुन्दरी नारी क दर्शन से उसके मनोराज्य म जो वासना की नारी मूर्त्ति जाग उठी थी, उसे वह कभी भी प्रकट कर सका है। कालिदास नही कर सके—समग्र जगत् के लक्ष-लक्ष कवि एकत्र होकर भी नही कर सके, इसीलिए आज भी शत-सहस्र नवीन उपमाओ की सहायता स चल रही है वह एक ही चेष्टा—अन्तर की उस वासना की नारी का किसी भी तरह आभास-

इंगित द्वारा बाहर प्रकट करने की चेष्टा।

'रघुवंश' में देख पाते हैं, 'रामचन्द्र के जन्म के बाद कृशोदरी कौशल्या शिशु रामचन्द्र को शय्या के किनारे लिटाकर उनके बगल में सोयी हुई हैं, देखकर लगता है कि शरत्-काल की क्षीणा जाह्नवी मानो सैकत के प्रस्फुटित कमल-रूपी उपहार के साथ सुशोभित हो रही है'—

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ (१०।६९)

शरत् की क्षीण टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली स्रोतस्विनी के शुद्ध सैकत में ईषत्-रक्ताभ प्रस्फुटित कमल-राजी को देखकर कवि को जो आनन्द मिला होगा वह माता सद्यःप्रसूत रक्तिमाभ शिशु को छाती से लगाये शुभ्र शय्या में क्षीण-शिथिल अंगों वाली सोयी हुई मातृमूर्त्ति के दर्शन से उपलब्ध आनन्द का ही सहोदर है। सहृदय पाठकों के चित्त में भी यदि सजातीय वासना हो, तो परस्पर सम्बद्ध दो चित्रों से वह वासना उद्रिक्त होकर उसे रस धारा से आप्लुत कर देती है।

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं, श्री रामचन्द्र सीता से कह रहे हैं

आसार - सिक्त - क्षिति - बाष्पयोगात्
मामक्षिणोद् यत्र विभिन्न - कोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते
विवाह - धूमारुण - लोचनश्रीः ॥ (१३।२९)

'वर्षा के नववारिपात से पृथ्वी के गात्र से भाप उठ रही है और अपने दलों को उद्भिन्न कर अरुण वर्ण का नवीन कदली-फूल विकसित हुआ है। पृथ्वी के गात्र से उत्थित वाष्प धूम से आवृत अरुणवर्ण नवदलभेदी कदली पुष्पों को देखकर रामचन्द्र को स्मरण हो आ रहे थे विवाह के यज्ञ धूम से अरुणाभ सीता के कोमल पद्म-भेदी लोचन-युगल।' पृथ्वी के वाष्प-धूम से आवृत नव ईषत्-विकच अरुणाभ कदली पुष्पों में एक नवीन लावण्य, एक रहस्यात्मक महिमा आ गई है, नवीन मेघ का नवतम वर्षण—जो पृथ्वी के तृषित देह में नवतम शीतल स्पर्श का संचार करने वाला है—जो श्रावण के घन-वर्षण की अग्रसूचना है—जिससे पृथ्वी के वक्ष में आयेगी स्निग्ध श्यामलता, गात्र-गात्र में रोमहर्षणकारी सजलता, तरु-लताओं में नवीन नव पत्र फूल, विवाह धूम से अरुणायित पद्म-द्वय के भीतर उन्मीलित सीता-चक्षुद्वय में इसी रागिनी की एक अपूर्व स्पन्दनमयी आभा है—एक अपरिमित महिमा है, क्योंकि विवाह धूम के पीछे हैं प्रेमरञ्जित

कुमारी-जीवन की एक नवतम तृप्ति, जो दाम्पत्य जीवन की फल-पुष्प-शोभित परिणति की अग्रसूचना है। रामचन्द्र के मन में ये दोनों ही दृश्य सम अनुभूति जगाते हैं—इसीलिए एक से दूसरे का स्मरण हो आता है।

कालिदास की उपमाओं में प्रकृति और मनुष्य का नैकट्य

अभी तक विवेचित कालिदास की उपमाओं पर ध्यान देने से हम एक बात देख सकेंगे—मनुष्य के रूप और गुण का वर्णन करते समय कालिदास ने, जहाँ तक हो सका है, प्रकृति के साथ उसकी तुलना कर उसे प्रकृति के निकटवर्त्ती करने की चेष्टा की है। और दूसरी ओर यह लक्ष्य कर सकते हैं कि प्रकृति के नदी-नद, पहाड़-पर्वत, वन-उपवन, वृक्ष-लता, प्रकृति का वर्णन करते समय कवि ने चेतन मनुष्य के रूप-गुण और जीवन-यात्रा के सदृश उनका वर्णन कर करके, जहाँ तक सम्भव हुआ है, प्रकृति को भी मनुष्य के निकटवर्त्ती किया है। यह कालिदास के कवि-कौशल का एक वैशिष्ट्य नहीं है—इसके द्वारा उनके कवि-धर्म का ही एक विरल वैशिष्ट्य सूचित होता है। कालिदास के काव्य पर समग्र भाव से विचार करने पर यह बात खूब स्पष्ट एवं प्रधान होकर दिखायी पड़ती है कि कवि के मन में विश्व-सृष्टि के भीतर चिद्-अचित् की भेद-रेखा मानो वहीं भी स्पष्ट नहीं है; इस सम्बन्ध में वे मानो बहुत कुछ अद्वयवाद के विश्वासी थे। वह मूल विश्वास ही मानो नाना रूप में प्रकट हुआ है उनकी उपमाओं के भीतर मनुष्य और प्रकृति की घनिष्ठ अन्तरंगता द्वारा। 'कुमारसम्भव' में उमा-सह माता मेनका की शोभातिशयता को कालिदास ने एक ही उपमा द्वारा प्रकट किया है :

> तया दुहित्रा सुतरां सवित्री
> स्फुरत् - प्रभामण्डलया चकाशे ।
> विदूरभूमि - र्नवमेघ - शब्दा-
> दुद्भिन्नया रत्न - शलाकयेव ॥ (१।२४)

'जिसका प्रभामण्डल चारों ओर स्फुरित हो रहा था, ऐसी कन्या के साथ माता मेनका वैसी ही शोभित हो रही थी, जैसे शोभित होती है नवमेघ-शब्दोपरान्त उद्भिन्न रत्नाङ्कुर के साथ विदूरशैलभूमि।'

'रघुवंश' में भगवान् नारायण के देह-सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि

ने कहा है— नारायण ने अपने शरीर पर जो अकुश धारण किया है उसकी दीप्ति तरुण सूर्य की तरह है उनके प्रबुद्ध नेत्रद्वय मानो दो सद्य प्रस्फुटित कमल हैं—इस तरह सर्वांग मे शरत् प्रभात की कान्ति विस्तीर्ण कर वे विराजमान हैं—

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्ष बालातपनिभाशुकम् ।
दिवस शारदमिव प्रारम्भ सुख दर्शनम् ॥ (१०।९)

पूर्वालिखित अनेक उपमाओ मे हमने लक्ष्य किया है कि नारी सौन्दर्य का वर्णन करते समय कालिदास ने किस तरह उसे विश्व प्रकृति के विभिन्न रूप गुण से युक्त कर उसका वर्णन किया है। दूसरी ओर फिर देख सकते हैं कि प्रकृति का वर्णन करते समय किस तरह कवि ने उसे नारी सौन्दर्य की छाया मे ग्रहण किया है। इसीलिए वेत्रवती नदी की चचल उर्मियो को उन्होने सभ्रूभग मुखमिव देखा है (पूर्वमेघ २४)। इसके बाद निर्विन्ध्या नदी जो मेघ की प्रणयिनी की तरह है

✓ वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणाया
ससर्पन्त्या स्खलितसुभग दर्शितावर्तनाभे ।

(पूर्वमेघ २४)

तरगक्षोभ के द्वारा चचल विहगगण ही जिसके काचीदाम हैं—जल का आवर्त ही जिसकी नाभि है—एव इन सबके द्वारा ही जो हाव भाव से मेघ को आकृष्ट करने की चेष्टा करेगी। हाव भाव के द्वारा प्रणय प्रकाशन के लिए समुत्सुक होने पर भी यह निर्विन्ध्या मेघ के विरह मे विरहिणी है—

✓ वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धु
पाण्डुच्छाया तटरुहतरु भ्रशिभि र्जीर्णपर्णैं ।

(पूर्वमेघ २९)

निर्विन्ध्या का जलप्रवाह एक वेणी की तरह कृश हो गया है तीरवर्ती वृक्ष के जीर्ण पत्रो के समूह द्वारा उसने पाण्डुच्छाया धारण की है —ये सब उसके विरह के चिह्न हैं। इसके बाद ही है शिप्रा नदी उस शिप्रा नदी मे प्रवाहित होने वाला पवन प्रार्थना चाटुकार प्रियतम की तरह है—शिप्रा वात प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार उसके इस प्रार्थना चाटुकारत्व का वर्णन मे देखते हैं

✓ दीर्घीकुर्वन् पटुमदकल कूजित सारसाना
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोद मैत्रीकषाय । (वही ३१)

वह पवन प्रत्यूष में सारसों के मधुर, अस्फुट, मनोहर रव को विस्तार कर एवं प्रस्फुटित पद्म की सुगन्धि बनकर बहता है। उसके बाद देख पाते हैं, धीरा नायिका गभीरा नदी की छवि। यक्ष मेघ से कहता है—'इस गभीरा नदी के विमल जल के प्रसन्न चित्त में तुम छाया रूप ग्रहण कर प्रवेश करना, उसके कुमुद धवल चटुल शफरी के उद्वर्तन रूपी दृष्टिपात को व्यर्थ करना तुम्हारे लिए किसी भी तरह उचित न होगा

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यात्
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि॥ (वही ४०)

'उस गभीरा नायिका का नील सलिल ही है नील तरल वसन, वेतस शाखा से युक्त होने के कारण वह हटा हुआ सा नील वसन मानो किंचित् करधृत वस्त्र की तरह प्रतीत होगा—और वह नील वसन हट जाने में मुक्त उसका पुलिन-रूपी जघन देश

तस्याः किञ्चित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्। इत्यादि
(वही ४१)

कैलाश पर्वत स्थित अलकापुरी का वर्णन करते हुए कवि ने 'मेघदूत' में कहा है

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूला
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
(वही ६३)

कैलाश पर्वत की गोद में सुन्दरी अलकापुरी मानो प्रणयी की गोद में आत्म-समर्पिता प्रणयिनी है, और उस पहाड़ की छाती में अलकापुरी को घेर कर टेढ़ी मेढ़ी हो जो तुषार धवल गंगा प्रवाहित हो रही है वह मानो उस प्रण-यिनी का विगलित दुकूल वस्त्र है—स्रस्तगङ्गादुकूलाम्।

'ऋतुसंहार' में शरद्-वर्णन के अन्तर्गत देख पाते हैं

चञ्चन्मनोज्ञशफरी रसनाकलापाः
पर्यन्त - संस्थितसिताण्डज - पङ्क्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्त - नितम्बबिम्बा
मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य॥ (३)

'शरद् काल की नदी मदालसा मन्थर गामिनी नारी है। चचल, मनोहर, श्वेत शफरीसमूह मानो उसका श्वेत काचीदाम है—उभय कूलों की श्वेत हस-माला मानो कण्ठ-हार है—और विशाल पुलिन-देश मानो उसका नितम्ब है।'

'विक्रमोर्वशी' मे भी देख पाते है

तरगभ्रू भगा क्षुभितविहग - श्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेन वसनमिव सरम्भशिथिलम्।
यथाविद्ध याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेय ध्रुवमसहना सा परिणता॥ (४।७२)

क्रुद्धा मानिनी प्रियतमा आज मानो इस नदी का रूप धारण कर चली जा रही है—'तरगमाला मानो उसके भ्रू-भग है, चचल विहग-श्रेणी उसका काचीदाम है। इधर-उधर विक्षिप्त फेन-पुज मानो उस क्रोध-कपितागी के स्ख-लितप्राय वस्त्र है, इसीलिए मानो अपने हाथो से उन्हे गिरने से रोक रही है। वह प्रतिहिता नदी मानो अपने प्रियतम के पथ पर उच्छल वेग से क्रुद्धा विपथुमती स्त्री की भाँति ही सवेग चली जा रही है।'

'रघुवश' मे कालिदास ने अट्टालिका के ऊपर से दीख पडने वाली स्वर्णाभ-चक्रवाक-मिथुन-खचित टेढी मेढी यमुना का वर्णन भूमि की स्वर्ण-खचित एला-यित वेणी की तरह किया है

तत्र सौधगत पश्यन् यमुना चक्रवाकिनीम्।
हेमभक्तिमतीं भूमे प्रवेणीमिव पिप्रिये॥ (१४।३०

'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे देखते है राजा 'मन्द्रगोप शाद्वल' अर्थात् इन्द्रगोप घास के साथ युक्त अचिरादगत दूर्वादल को प्रिया का 'शुकोदरश्याम स्तना-शुकम्' (४।३४) समझ बैठते है।

'ऋतुसहार' मे, वर्षाऋतु मे पृथ्वी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है:

प्रभिन्न - वैदूर्य - निभै - स्तृणाकुरै
समाचिता प्रोत्थित - कन्दलीदलै।
विभाति शुक्लेतर - रत्नभूषिता
वरागनेव क्षिति - रिन्द्रगोपकै॥ (५)

'दलित वैदूर्यमणि की तरह श्यामल तृणाकुरो, नवोद्गत कदली-पत्रो एव (वर्षा-कालजात) इन्द्रगोप घास (अथवा इन्द्रगोप कीट) मे समावृत होकर मानो रत्नभूषिता वरागना की तरह क्षिति सुशोभित हो रही है।'

वर्षा की ग्राविलस्रोत समृद्धा चचला नदी के वर्णन मे देखते है—

निपातयन्त्य परितस्तटद्रुमान्
प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः
प्रयान्ति नद्यस्त्वरित पयोनिधिम् ॥ (७)

'अनिर्मल प्रवृद्धवेग सलिल-समूह के द्वारा उभय तीरवर्ती तट-तरुवृन्द को निपातित कर नदियाँ सुदुष्टा स्त्रियो की तरह जात विभ्रमा होकर क्षिप्रता से समुद्र की ग्रोर प्रधावित हो रही है।'

वर्षा म वनान्त के वरणन म देखते है, नवीन जल-वर्षण से वनान्त का समस्त ताप दूर हो गया है—'खिले हुए फूलो से लदे कदम्ब-वृक्षो के द्वारा उसके ग्रानन्द की अपूर्व ग्रभिव्यक्ति हो रही है—चारो ग्रोर के वृक्षो की शाखाएँ पवन के द्वारा ग्रान्दोलित हो रही है मानो वह वनान्त का ग्रानन्द-नृत्य है, ग्रोर केतकी पुष्प के सूचीवत् किजल्क के द्वारा वनान्त की हँसी ग्राज फूट पड रही है।'—

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात
पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभि केतकीना
नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्त ॥ (२३)

वर्षा क बीत जान पर शरत् वधू का ग्रागमन होता है—वह मानो नव-वधू है। 'काशाशुक उसका परिधान है, विकसित पद्म की तरह मनोज्ञ उसका मुखडा है, उल्लासमत्त हसो क ग्रानन्दरव की तरह उसका रम्य नूपुरनाद है। ग्रापक्व शालिधान्य क कारण वह रुचिरा है, ऐसा ही है तन्वगी रूपरम्या शरत् का नववधू-वेश —

काशाशुका विकच-पद्म-मनोज्ञ वक्त्रा
सोन्माद - हसरव-नूपुर-नादरम्या ।
ग्रापक्व-शालिरुचिरा तनुगात्रयष्टि
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ (१)

इस प्रसग म यह उल्लेखनीय है कि कालिदास न दो उच्च कूलो के मध्य प्रवाहित नदी की तुलना नारी के कण्ठ म सुशोभित मुक्तामाला के साथ स्थान-स्थान पर की है। 'मेघदूत म चर्मण्वती के वर्णन म देखते है :

'एक मुक्तागुणमिव भुव स्थूलमध्येन्द्रनीलम् (४६)। रघुवश म मन्दाकिनी

के वर्णन में कहा गया है :

एषा प्रसन्नस्तिमित - प्रवाहा
सरिद्विदूरान्तर भावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ (१३।४८)

पर्वत के उपकण्ठ में नदी की धारा का मुक्तावली के रूप में वर्णन करने की एक विशेष सार्थकता है । दो पर्वत-शिखरों के साथ नारी के स्तनों की उपमा में मिलकर नदी की यह मुक्तामाला की उपमा पूर्णता प्राप्त करती है । इसीलिए नारी के वक्ष में हार के साथ दो शिखरों को स्पर्श करने वाली नदी की उपमा भी स्वाभाविक रूप में ही आती है । कालिदास की उपमा में इसका आभास भी है ; जैसे—'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म-वर्णन में :

पयोधराश्चन्दनपंक - चर्चिता-
स्तुषार गौरार्पित - हारशेखराः । (६)

कालिदास की उपमाओं मे आनुपातिक सम्बन्ध

हमने पहले ही देखा है कि हमारी स्मृति मे भी गम्भीरता के स्तर है, हमारी सब ही उपमाएँ वासना के अतल तल मे दबी हुई है, यह बात नही कही जा सकती। बहुत बार उपमाएँ हमारी साधारण स्मृति से भी आ सकती है। हमने देखा है कि समजातीय वस्तुओ को मन के भीतर विधृत कर रखने की हमारे मन की एक क्षमता है, फिर हमारी चित्तवृत्ति के भीतर ऐसा भी एक धर्म है जिसके फलस्वरूप एक वस्तु की अनुभूति अपने से युक्त अन्यान्य अनुभूतियो को भी मन मे जगा सकती है—इसी को स्मरण कहते है। वहिर्वस्तुओ की अनुभूतियो के लिए, जो वस्तु-सादृश्य के द्वारा ही मन म विधृत रहती है—ऐसी बात नही कही जा सकती, कार्य-कारण, अग-अगी, शेप-शेपी प्रभृति रूपो मे भी वस्तुओ का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उस सूत्र से भी वस्तु की अनुभूति बहुत बार हमारे मन मे एक होकर रहती है। वस्तुओ का यह शेपोक्त सम्बन्ध ही अर्थान्तरन्यास प्रभृति अलकारो की सृष्टि करता है।

देहगत सादृश्य को छोडकर गुण-धर्म-सादृश्य द्वारा जब वस्तुओ का सम्बन्ध हमारे मन के भीतर युक्त रहता है, तब सर्वदा ही उनके भीतर एक प्रकार का उपमान-सम्बन्ध (Relation of analogy) रहता है। दो वस्तुओ के गुण या धर्म जब समजातीय होते है, तभी रूपगत समस्त वैसादृश्य के बावजूद मन के भीतर वे एकत्र ग्रथित हो रहते है। इसीलिए आलकारिको ने उपमान एव उपमेय मे जो सादृश्य की बात कही है, उसका नाम दिया है साधर्म्य या सामान्य गुण। 'कुमारसम्भव' म कालिदास ने कहा है

तां हंसमाला शरदीव गंगा
महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशा - मुपदेशकाले
प्रपेदिरे प्राक्तन - जन्म - विद्या ॥ (१।३०)

'जैसे शरत् काल की गंगा में हंसमाला अपने आप उड आती है—रजनी की महौषधि में दीप्ति जैसे स्वतः प्रकाशित होती है, वैसे ही प्राक्तन जन्म की विद्या उपदेश के समय मेधाविनी उमा को प्राप्त हुई।' यहाँ यदि हम उपमा का विश्लेषण करें, तो देख पायेंगे कि उन सब चित्रों के भीतर एक अनुपात सम्बन्ध के कारण ही योगसूत्र बना हुआ है। इस सम्बन्ध का हम इस तरह विश्लेषण कर सकते हैं शरत् की नदी के लिए जैसी हंसमाला है, रजनी की महौषधि के लिए जैसी स्वयं प्रकाश ज्योति है, उपदेश काल में मेधाविनी उमा के लिए प्राक्तन जन्म की विद्या की स्वतःस्फूर्ति भी वैसी ही है। शरत्-गंगा के साथ हंसमाला का जो सम्बन्ध है, मेधाविनी उमा के साथ प्राक्तन विद्या का ठीक वही सम्बन्ध है। गणित की भाषा में हम इसे एक तरह का आनुपातिक सम्बन्ध कह सकते हैं एवं गणित के सूत्र में इसको इस तरह लिख सकते हैं—

शरत् की गंगा हंसमाला उपदेश काल में स्थिरोपदेशा
रजनी की महौषधि आत्मभास उमा प्राक्तन जन्म विद्या

यहाँ उपमा की सार्थकता प्रधानतः इस आनुपातिक सम्बन्ध के ऊपर ही निर्भर करेगी। यह सम्बन्ध जितना निर्भ्रान्त, जितना सुष्ठु जितना सर्वांग सुन्दर होगा, उपमा भी उतनी ही सुन्दर होगी। ऊपर के उदाहरण में देखते है—शरत् की गंगा में हंसमाला के उड़कर आने का जैसे प्राकृतिक नियम है, रात्रि में ओषधि का प्रज्वलन भी जैसे स्वतःस्फूर्त है मेधाविनी उमा के चित्त में प्राक्तन विद्या भी वैसी ही स्वतःस्फूर्त है। यहाँ प्राकृतिक विधान में यह स्वतःस्फूर्ति ही आनुपातिक सम्बन्ध है। उमा के चित्त में प्राक्तन विद्या की स्वतःस्फूर्ति, शरत् की गंगा में हंसमाला के आगमन एवं रजनी की ओषधि में आत्मभास की तरह ही अति सुष्ठु रूप से प्रकाशित हुई है इसीलिए उपमा सार्थक है। यहाँ और भी देख पाते है कि इस आनुपातिक सम्बन्ध के अतिरिक्त भी शरत् की गंगा के साथ तन्वी उमा का एवं शुभ्र हंसमाला तथा ओषधि की स्वयंदीप्ति के साथ शुभ्रोज्ज्वल विद्या का एक सुकुमार सादृश्य है—इस सादृश्य माधुर्य एवं आनुपातिक सम्बन्ध की सुष्ठुता ने ही समग्र उपमा को सार्थक महिमा प्रदान की है।

इस आनुपातिक सम्बन्ध का प्रश्न साधारण उपमा के भीतर भी छिपा रहता है। 'रघुवंश' में राजकुमार अज की वर्णना में देखते है—क्षत्रिय राजकुमार अज ब्राह्मण्य संस्कारों से संस्कृत होकर तेजस्विता में और भी दुर्धर्ष

हो उठा है, क्योंकि क्षात्रतेज के साथ ब्राह्मण्य तेज का मिलन ठीक जैसे अग्नि के साथ पवन का मिलन है :

स बभूव दुरासदः परै-
गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं
सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ (८।४)

यहाँ भी इस कथन को गणित की पद्धति से स्पष्ट रूप में इस तरह उपस्थापित किया जा सकता है :

अस्त्रतेज वा क्षात्रतेज : ब्राह्मण्यतेज : : अग्नि : पवन—इस आनुपातिक सम्बन्ध में मूल का माहात्म्य जहाँ बड़ा हो जाता है, वहीं 'व्यतिरेक', 'अधिकारूढ़-वैशिष्ट्य' प्रभृति अलंकार होते हैं। 'कुमारसम्भव' में ही देख पाते हैं, 'विवाह से पूर्व पुर-नारियाँ उमा के गौरवपूर्ण अंगों में शुक्ल अगुरु का लेपन कर उन्होंने गोरोचना द्वारा पत्राङ्कित कर देती हैं। उमा की देह में गोरोचना के उस पत्राकन के सम्मुख श्वेत सैकत-राशि में प्रवाहिता चक्रवाल-शोभिता गंगा के लावण्य ने भी हार मान ली थी' :

विन्यस्तशुक्लागुरु चकुरंगं
गोरोचना - पत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकांकित - सैकतायाः
त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ (७।१५)

यहाँ देखते हैं कि गोरोचना के पत्राकन से युक्त गौरी के शुक्ल अगुरु-मार्जित अंगों और चक्रवाकयुक्त गंगा के श्वेत सैकत में भी कवि ने कुछ पार्थक्य सूचित किया है—'अतीत्य तस्थौ'।

कालिदास की उपमा का चमत्कारित्व इस आनुपातिक सम्बन्ध के निपुण संस्थापन में है। रूप के सादृश्य द्वारा गुण-कर्म के इस आनुपातिक सम्बन्ध के निपुण संस्थापन द्वारा वक्तव्य विषय मानो मधुर से मधुरतर, गम्भीर से गम्भीरतर हो उठता है। वस्तु के साथ वस्तु के, या घटना के साथ घटना के सम्बन्ध में बहुत बार ऐसी एक धारणा रहती है कि उसको इसी प्रकार के अनेक-विध आनुपातिक सम्बन्धों में डाले बिना हम लोग अच्छी तरह समझ नहीं पाते। उमा जब महादेव के द्वारा प्रत्याख्यान होने पर, मर्माहत हो घर लौटी जा रही थी, तब पिता हिमालय ने आकर पुत्री को छाती से लगा लिया :

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्र-संरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत् पद्मिनीं दन्तलग्ना
प्रतिपथगतिरासीद् वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥ (३।७६)

'हिमालय ने हठात् आकर दोनों भुजाएँ फैलाकर रुद्र-कोपानल के भय से निमीलितनयना अनुकम्पायोग्या कन्या को उठा लिया, एवं, जिस तरह सुरगज दन्तलग्न नलिनी को लेकर चलता है, उसी तरह दीर्घ पद विक्षेप करते हुए देह विस्तृत कर प्रस्थान किया ।' नगाधिराज हिमालय के दोनों हाथों में उमा मानो सुरगज के दाँतों में लिपटी कमलिनी हो ! इस आनुपातिक सम्बन्ध में सुमधुर कमनीयता है । कर्कश-देह, धूसर-वर्ण विराट् हाथी के दाँतों में जैसे—छोटी-सी कोमल कमलिनी शोभा पाती है, हिमालय के धूसर ऊबड़-खाबड़ विराट् वक्ष में कोमलाङ्गी तन्वी उमा वैसी ही सुशोभित हो रही थी । केवल यही नहीं—बलवान् विराट् हाथी की जिस सूँड के आघात से बड़े-बड़े वृक्ष भी क्षण-भर में टूट जाते हैं, समस्त वन्य पशु जिसके भय से भीत-त्रस्त रहते हैं, उसी भीषण, बलवान् हाथी की धूसर, कर्कश देह के भीतर कैसा कोमल स्नेह छिपा है, जिस स्नेह के वशवर्ती हो वह अतिशय कोमल कमलिनी को इतने यत्न एवं प्रेम से अपनी सूँड से उठाता है कि जिससे एक कोमल पंखुरी में भी जरा-सा आघात न लगे, विराट् हिमालय के वक्ष में उमा भी ठीक उसी तरह है । जो विराट् हिमालय क्षण-भर में कितने ही जनपदों को निश्चिह्न कर दे सकता है—दावाग्नि से कितनी ही वनस्पति, कितने ही जीव-जन्तु ध्वंस कर दे सकता है—भीषण जल-प्लावन कर सकता है, कितने नद-नदियों का प्रवाह बन्द कर दे सकता है, उसकी छाती में पितृ-स्नेह की करुणा कितनी मधुर है !

'रघुवंश' में देख पाते हैं—स्वयंवर-सभा में प्रतिहारिणी सुनन्दा राजकन्या इन्दुमती को एक राजा के बाद दूसरे राजा के पास ले जा रही है । कवि ने कहा है

तां सैव वेत्र - ग्रहणे नियुक्ता
राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्ग - लेखा
पद्मान्तरं मानस-राजहंसीम् ॥ (६।२६)

कमल से दूसरे कमल के पास ले जाती है।'—उपमा का विश्लेषण करने पर प्रथम सार्थकता यह ज्ञात होती है कि इसका आनुपातिक सम्बन्ध अत्यन्त सुष्ठु है।

प्रतिहारिणी द्वारा राजकन्या को एक राजा के बाद दूसरे राजा के निकट अग्रसर करना वैसा ही लगता है, जैसे समीरण के मृदु वेग से उत्थित तरंग के ईषत् आन्दोलन द्वारा मानस विहारिणी मराली को एक कमल से दूसरे कमल के निकट पहुँचा देना। फिर राजसुता इन्दुमती यहाँ मानस राजहंसिका है। वह मानो राजन्यवर्ग के मानस के नवतम प्रणयाकाश रूपी जल में राजहंसी की तरह ही बंकिम भंगिमा से ईषत् लास्यपूर्वक विचरण कर रही है। आनन्द-लीला के जरा-से चांचल्य से ही वह इधर से उधर जा सकती है। प्रस्फुटित नवयौवन वाले एक एक राजकुमार मानो एक एक प्रस्फुटित पद्म हैं और प्रतिहारिणी भी यहाँ समीरणोत्थित तरंगलेखा ही है। वह सखीजनोचित आनन्द कौतूहल और ईषत् लास्यपूर्वक चल रही है, इसीलिए समीरणोत्थित तरंगलेखा है। यह आनुपातिक सम्बन्ध, प्रत्येक वस्तु का यह गुण-कर्म एवं रूप का सादृश्य, इन सबके एकत्रीकरण से एक रमणीय रसध्वनि की सृष्टि होती है।

श्री रामचन्द्र जब सीता का पुनरुद्धार कर लंका से अयोध्या लौटे, तब समग्र अयोध्या नगरी आनन्दोत्सव से भर उठी। तब—

प्रासाद - कालागुरु - धूमराजि-
स्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन—
मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ (१४।१२)

'उस अयोध्यापुरी के प्रासादों से उत्थित कृष्ण अगुरु की धूमराजि वायुवेग से भिन्न हो जाती थी, लगता था कि वन से प्रत्यावर्तन कर रघूत्तम राम ने मानो स्वयं अयोध्यासुन्दरी की काली-वेणी मुक्त कर दी है। राजभोग्या राज-नगरी के साथ राजा का सम्बन्ध कान्तासम्मित होता है। रामचन्द्र के सुदीर्घ चौदह वर्षों के लिए वनवास ग्रहण करने पर इस सुदीर्घ विरह-काल में अयो-ध्यानगरी में कोई आनन्दोत्सव नहीं हुआ, भरत सन्यासी, शत्रुघ्न सन्यासी और समग्र अयोध्या नगरी भी मानो रामचन्द्र की प्रतीक्षा में धृतैकवेणी तपस्विनी। आज मानो रामचन्द्र ने लौटकर अपने हाथों से उस श्वेतकौषेयवसना धृतैकवेणी अयोध्या के अगुरु-सुरभित कालकेशदाम को मुक्त कर दिया है।

सीता के वनवासी शिशु पुत्रद्वय, कुश एव लव, ने महर्षि वाल्मीकि के साथ राजसभा मे आकर वीणा पर रामायण का गान आरम्भ किया, कोमल-कण्ठ शिशुद्वय के संगीत के कारण माधुर्य से समस्त राजसभा सजल नयन हो स्तब्ध रह गई। कवि की भाषा मे

तद्गीतश्रवणैकाग्रा ससदश्रुमुखी बभौ ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥ (१५।६६)

'सुमधुर बालकण्ठ स वह करुण मधुर संगीत सुनकर समाहित निस्पन्द विराट् सभा अश्रुमुखी हो गई, मानो वह शिशिर-स्निग्ध निर्वात प्रभात की निस्तब्ध वनस्थली हो।' ससद् के वे आँसू मानो संगीत-श्रवण द्वारा युगपत् असीम माधुर्य एव करुणा मे विगलित चित्त की निस्तब्ध भाषा हो, ऐसी ही एक अव्यक्त करुणा एव माधुर्य की ही भाषा है प्रभात-वनस्थली के गात मे स्वच्छ शीतल शिशिर विन्दु। समाहित निस्पन्द समद् जैसे प्रभात की निर्वात वनस्थली है।

कालिदास की प्राय प्रत्येक उपमा की विशेषता यही है कि उसके भीतर एक आश्चर्यजनक स्थिति स्थापकता का गुण है। उसे दायें बाय, ऊपर-नीचे जितना भी खीचा जाये, वह उतना ही बढती है, सहसा टूट नही जाती, और छोड देने पर फिर आकर सकुचित होती है एक चित्र के रूप मे। उपमाओ मे जैसे एक आपात माधुर्य अर्थ का चमत्कारित्व है, वैसे ही इनमे अत्यधिक सम्भावना भी गर्भित है। उस गर्भित सम्भावना का अस्फुट आभास स्पष्ट अर्थ को और भी गम्भीरता, और भी रहस्य, प्रदान करता है। 'किंचित्परिलुप्तधैर्य' महादेव की तुलना कालिदास ने जहाँ 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि' के साथ की है, वहाँ यह स्पष्ट हो उठा है कि महादेव के योग-समाहित चित्त मे समुद्र-वक्ष का ईषत् चाचल्य है, किन्तु समुद्र के साथ महादेव की इस तुलना के भीतर और भी बहुत-सी बात गर्भित है। महादेव का चित्त ऐसा विराट् है कि समुद्र-वक्ष की तरह जैसे वह ईषत् उद्वेलित हो सकता है, वैसे समुद्र की तरह ही भीषण रौद्र मूर्ति भी धारण कर सकता है। महादेव के विक्षुब्ध चित्त के उस समुद्र-सम प्रचण्डाघात से भी क्षण-भर म समग्र सृष्टि त्रस्त हो उठ सकती है। इस गर्भित सम्भावना की पृष्ठभूमि म ही महादेव के चित्त की ईषत् उद्वेलना यहाँ इतनी सार्थक हो उठी है। कालिदास ने जहाँ आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा को 'प्रभात-कल्पा शशिनेव शर्वरी' कहा है, वहाँ वे केवल प्रभात-कल्पा शर्वरी की पाण्डुता के साथ गर्भिणी सुदक्षिणा की पाण्डुता की ही तुलना करते हैं, ऐसा

कालिदास की उपमाओं मे औचित्य

कालिदास की उपमाओ के इस स्थितिस्थापकता-गुण के विवेचन-प्रसग मे ही कालिदास की उपमाओ का औचित्य भी लक्षणीय है। देश-काल-पात्र के समस्त अवस्थाना के अनुरूप श्लोक के शब्द-शब्द म अर्थ भर देने मे कालिदास अद्वितीय है। हमने कालिदास के जिन श्लोको पर ऊपर विचार किया है, उनम मे प्राय प्रत्येक म देश-काल पात्र का निपुण समावेश देखा जा सकता है।

सस्कृत आलकारिको मे एक दल औचित्यवादियो का भी है। उनका कथन है कि वाक्य का औचित्य, अर्थात् देश-काल-पात्र प्रभृति सभी दृष्टियो से विचार कर वाक्य का जो सुष्ठुतम प्रयोग है, वही है काव्य का काव्यत्व। वाक्य के इस औचित्य के भीतर ही वे जो एक अनन्यसाधारण रमणीयता पाते है, वही है काव्य की प्राण-वस्तु। यह मत पूर्णत ग्रहणीय न होने पर भी इसम विचार करने योग्य यथेष्ट तत्त्व है। सब दृष्टियो मे विचार करने पर जो उचित बोध होता है, मन म उस औचित्य-बोध एव सगति या सुषमा-बोध के साथ सौन्दर्य-बोध का एक निगूढ सयोग है, क्योकि सौन्दर्य-बोध के मूल मे भी सगति या सुषमा ही रहती है। इस औचित्यवाद के अनुसार विचार करने पर कालिदास की उपमाएँ उनके काव्य मे कितनी प्रधान हो उठी है, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

'शकुन्तला' नाटक मे देख पाते है, महर्षि कण्व आश्रम लौटकर आकाशवाणी द्वारा दुष्यन्त एव शकुन्तला की समस्त प्रेम-कथा जान गए। प्रियम्वदा के मुँह से हम पता चलता है कि महर्षि कण्व ने शकुन्तला को अपनी गोद म बैठाकर कहा—'धूमाउलिददिट्ठिणो वि जजमाणस्स पावए आहुद पडिदा'—अर्थात् 'यज्ञीय धूम से आकुलितदृष्टि याज्ञिक की भी घृताहुति अग्नि मे ही पडी है।' आश्रम-पालिता आश्रमकन्या होने पर भी शकुन्तला ने अपने योग्य स्वामी ही प्राप्त किया है। यहाँ कालिदास नयमालिका एव सहकार के मिलन दृश्य को तो नहीं लाये—आश्रमपालिता शकुन्तला यहाँ धूमाकुलित-दृष्टि याज्ञिक की घृताहुति है और राजा दुष्यन्त है यज्ञीय अग्नि। यहाँ कालिदास का निपुण

माना ज्ञान है—यही है उनका देशकाल पात्र का अटूट विचार । यहाँ वक्ता है महर्षि कण्व, स्थान है तपोवन, इसीलिए यहाँ शकुन्तला एवं दुष्यन्त यज्ञ की हवि एवं अग्नि से भिन्न और क्या हो सकते थे ? देश काल पात्र की इस निविड संगति द्वारा ही वक्तव्य इतना मधुर हो उठता है।

'*देवतात्मा नगाधिराज हिमालय की भी उमा के सम्बन्ध में ऐसी ही* उक्ति देख पाते हैं

ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूत-
महन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ।। (१।५१)

मन्त्रपूत हवि कभी भी अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी तेजोमय वस्तु में निक्षिप्त नहीं हो सकती। उमा भी उसी तरह महादेव के अतिरिक्त अन्य किसी के निकट अर्पिता नहीं हो सकती। महर्षि कण्व जहाँ पिता हैं, वहाँ उनकी उक्ति के भीतर से पुनः पितृत्व भरा पड़ रहा है। शकुन्तला को आर्या गौतमी एवं ऋषिगण के साथ पतिगृह भेजते समय व्यथित कण्व कह उठे—'स्नेह-प्रवृत्ति ठीक ऐसी ही होती है, फिर भी आज शकुन्तला को भेजकर मैंने जैसे पुनः स्वास्थ्यलाभ किया है क्योंकि कुमारी कन्या जैसे पिता के निकट दूसरे का रखा हुआ धन है जब तक उसे प्रत्यर्पित नहीं किया जाय, तब तक मानो स्वस्ति नहीं मिलती उसी परन्यस्त धन शकुन्तला को आज पतिगृह भेज मैं भी निश्चिन्त एवं निरुद्वेग हुआ।

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।

गौतमी एवं शार्ङ्गरव प्रभृति ऋषियों के साथ शकुन्तला जब दुष्यन्त की राजसभा में उपस्थित हुई, तब शार्ङ्गरव ने राजा दुष्यन्त से कहा था

त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।

'तुम जैसे श्रद्धार्ह और लोक समाज में अग्रगण्य हो हमारी शकुन्तला भी ठीक वैसी ही मूर्तिमती सत्क्रिया है।' शार्ङ्गरव ने यह बात नहीं कही—'हे राजन् ! तुम जैसे मधुनुर मधुकर हो, हमारी शकुन्तला भी वैसे ही मधुपूर्ण अनाघ्रात पुष्प है।' यौवनोन्मत्त राजा दुष्यन्त के निकट जो शकुन्तला एक दिन थी अनाघ्रात पुष्प, नख द्वारा अच्छिन्न किसलय अनाविद्ध रत्न, अना-

स्वादित रस-मधु ; शाङ्‌र्ङरव की भाषा मे वह शकुन्तला ही मूर्तिमनी सत्क्रिया है। नारी का पार्थिव रूप अंकित करते समय कालिदास ने मर्त्यलोक के उपकरणों को कितना ही टटोला है, किन्तु महर्षि वाल्मीकि के साथ सीता जिस दिन शिशु पुत्रद्वय सहित राम के सम्मुख उपस्थित हुई है, उस दिन सीता नवोदित सूर्य के सम्मुख ऋषिकण्ठ की गायत्री है। राजा रघु जिस दिन विश्वजित् यज्ञ मे सर्वस्व-दान कर नंगे बदन ही रह गए थे, उस दिन वनवासी ऋषियों ने कहा था

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्
आभासि तीर्थप्रतिपादितर्धि ।
आरण्यकोपात्त - फल - प्रसूति
स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ (५।१५)

'महाराज समस्त धनराशि उपयुक्त पात्रों को अर्पित कर आप केवल देहावशिष्ट होकर अवस्थान कर रहे हैं, आरण्यक ऋषिगण द्वारा समस्त शस्य ले जाने पर नीवार जैसे स्तम्ब-मात्र रह जाता है, आप भी आज तद्रूप हैं।' धन-सम्पद् बाँट देने के बाद राजा रघु आज मुनियों के निकट शस्य-हीन स्तम्ब में अवशिष्ट नीवार की तरह हैं। वन के ऋषि और कहाँ से उपमा पायेंगे? सम्पद्हीन राजा की प्रतिमूर्ति वे देख पाते हैं, शस्य-हीन स्तम्बाव-शिष्ट नीवार में।

कालिदास की उपमाओं में वैचित्र्य और विराट्तत्त्व

कालिदास के काव्य में प्रायः प्रत्येक पंक्ति में उपमा पायी जाती है। उनमें से कुछ उपमाएँ शायद अन्य कवियों के लिए भी सम्भव होतीं किन्तु अनेक उपमाएँ ऐसी है जिन पर कालिदास के नाम की एकान्त सील मोहर लगी हुई है। केवल स्थिति स्थापकता गुण में ही नहीं—कालिदास की उपमाओं का वैशिष्ट्य है उनकी अनुभूति की सूक्ष्मता गंभीरता एवं विराटत्व में उनकी कल्पना की सूक्ष्मता विपुलता एवं वैचित्र्य में। एक ओर देख पाते हैं समस्त विश्व सृष्टि अपने समस्त चन्द्र सूर्य ग्रह-नक्षत्र गिरि नदी तरु-लता पत्र-पुष्प पशु पक्षी आदि लिये एवं मनुष्य अपने रूप की सकल सूक्ष्म सुषमा अपने जीवन का समस्त सुख दुःख अच्छाई बुराई हास्य क्रन्दन मिलन विरह समस्त वैचित्र्य लिये कवि के मन के भीतर निविड रूप से माना बिल्कुल यथार्थ रूप से आसन जमाये बैठे हैं और दूसरी ओर देख पाते हैं कि कल्पना शक्ति की सफलता द्वारा क्षण भर में ही पाठक के निकट उस मानसिक जगत् को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देने की असीम शक्ति भी कवि में है। इस आदान प्रदान की निजस्वता के माध्यम से कवि प्रतिभा का स्वातन्त्र्य खिल उठा है। कवि का दर्शन शक्ति एवं श्रवण शक्ति में एक विशिष्ट स्वाधीन भंगिमा थी उसी स्वाधीन चिन्ताधारा को कवि ने स्वाधीन कल्पना के निःसीम आकाश में मुक्त कर दिया है—स्वच्छन्द है उसकी गति विपुल है उसकी परिधि।

पहले ही कहा जा चुका है कि कवि को अपना वक्तव्य बहुत बढ़ाकर कहना पड़ता है क्योंकि जो अनुभूति कवि के लिए प्रत्यक्ष है पाठक के लिए वह परोक्ष है। इसीलिए पाठक के निकट उसे वस्तु बनाकर उपस्थित नहीं करने पर पाठक रस की समग्रता की उपलब्धि नहीं कर सकता। साहित्य में हमारे मन की सूक्ष्म रसानुभूतियों को ही दूसरे के निकट वस्तु बनाकर रखना होता है ऐसा नहीं है—प्राकृतिक स्थूल वस्तुओं को भी बना चढ़ाकर दूसरे के निकट उसके स्वरूप का परिचय देना पड़ता है।

अपने मन के भावों को बाहर कितना बढ़ाकर कहने से पाठक कवि-मानस का सन्धान पा सकता है, कवि की अनुभूति का सबल, सूक्ष्म सौकुमार्य एवं वैचित्र्य, उसका गाम्भीर्य एवं विराटत्व दूसरे के निकट स्पष्ट हो सकता है, यह बात कालिदास अत्यन्त निपुणतापूर्वक जानते थे। हमने पहले ही देखा है कि योग-मग्न महादेव के ईषत् चित्त चांचल्य को कवि ने किस तरह भाषा प्रदान की है। रघुराज की प्रसविनी रानी सुदक्षिणा की मूर्ति को कवि ने किस तरह प्रभात-कल्पा शर्वरी का रूप दिया है। इस गर्भिणी सुदक्षिणा के सम्बन्ध में ही कहा गया है

निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीन - पावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ (३।९)

'अन्तःसत्त्वा महिषी को राजा दिलीप सागराम्बरा रत्नगर्भा वसुन्धरा की तरह, अग्निगर्भा शमी की तरह एवं अन्तःसलिला सरस्वती नदी की तरह समझते थे।'

विलाप करती हुई शकुन्तला जब आश्रम छोड़कर पतिगृह-यात्रा कर रही थी, तब महर्षि कण्व ने भी कहा था

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥

'हे वत्से ! पूर्व दिशा जिस तरह सूर्य को प्रसव करती है, उसी तरह शीघ्र ही एक पुत्र प्रसव कर तुम मेरे विरह जनित शोक को भूल जाओगी।' शकुन्तला शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्रसव करेगी, जिसके नाम पर यह विशाल साम्राज्य भारतवर्ष के रूप में विख्यात होगा। ऐसे पुत्र के प्रसव के लिए ही 'प्राचीवार्कं प्रसूय' कहा जा सकता है। शकुन्तला-नाटक के चतुर्थ अंक में भी हम शकुन्तला के विषय में महर्षि कण्व की आकाशवाणी सुनते देख पाते हैं

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ।

'हे ब्राह्मण ! तुम अपनी पुत्री को अग्निगर्भा शमी की तरह समझो !' गर्भवती शकुन्तला आज 'अग्निगर्भा शमी' है !

मेघदूत में देख पाते हैं, यक्ष मेघ को कैलासपर्वत का परिचय दे रहा है

✓ गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।

शृगोच्छ्राय कुमुदविशदर्यो वितत्य स्थित ख
राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास ॥

(पृ० ५८)

'हे मेघ, ऊर्ध्व दिशा को गमन कर रावण की भुजाओ द्वारा विभक्तसन्धि एव देववनिताओं के दपण स्वरूप कैलाम पवत के अतिथि होना जो कैलाम कुमुद की तरह शुभ्रवण उच्च शृगसमूहों के द्वारा आकाश व्याप्त कर प्रत्यह महादेव के पुञ्जीभूत अट्टहास की तरह विराजित रहता है। शुभ्रतुषार किरीटी शुभ्र रवि किरणो से प्रदीप्त अभ्रभदी कैलास के शिखर मानो महाकाल के अधीश्वर देवाधिदेव त्रयम्बक के प्रतिदिन के पुञ्जीभूत अट्टहास है।

मेघदूत म अन्यत्र देखते हैं। यक्ष मेघ को कहता है—सन्ध्यावेला म महाकाल महादेव अपने ताण्डव नृत्य के लिए उत्सुक होते हैं। इस ताण्डव नृत्य के आरम्भ म वे अपनी विशाल दस भुजाएँ रक्तार्द्र गजचम के लिए ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रसारित करते हैं। यह रक्तार्द्र गजचम स्वभावत भवानी को अच्छा नहीं लगता, भयोद्रेक करता है उस समय हे मेघ तुम यदि महादेव की ऊर्ध्वप्रसारित दीघ वनराजि रूप भुजाओ के ठीक ऊपर अभिनव जवापुष्प की तरह रक्तवण धारण कर मण्डलाकार हो अवस्थान करो, तो महादेव भी और रक्तार्द्र गजचम के लिए हस्त प्रसारण नहीं करेंगे भवानी भी शान्त भाव से निश्चल नेत्रो से तुम्हारी भक्ति भाव देखती रहेगी —

पश्चादुच्चै र्भुजतरुवन मण्डलेनाभिलीन
साध्य तेज प्रतिनवजवापुष्परक्त दधान ।
नृत्यारम्भे हरपशुपतेरार्द्र नागाजिनेच्छा
शान्तोद्वेग स्तिमितनयन दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ (पृ० ३६)

यहाँ महाकाल की ऊर्ध्वप्रसारित वनतरु रूप कर राजि एव उसम मलग्न साध्यमेघ की रक्तद्युति प्रतिफलित कर मेघ के रक्तार्द्र गजाजिन रूप की सचमुच अपूर्व चमत्कृति प्राप्त हुई है। पूवमेघ के और एक श्लोक म देखते हैं

आसीनानां सुरभितशिल नाभिगन्धैर्मृगाणा
तस्या एव प्रभवमचल प्राप्य गौर तुषार ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृगे निषण्ण
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ (पृ० ५२)

हिमालय के जिस प्रदेश म गगा की उत्पत्ति हुई है वह पवत तुषाराद्र

पवतीय क्षत्र ही है त्रिनयन महादव का शुभ्र वृषभ, उस प्रदश म हिमालय का जो शिखर है वही है महादव क उस तुषारधवल वृषभ का शृग, और उस शिखर म निषण्ण जो ईषत-कृष्ण मघ है वही है मानो उस वृषभ क शृगात्खात स उत्तोलित कदम । महादव क विराट्त्व क साथ उनक वृषभ— विराट वृषभ क शृग एव उस शृग क कदम का विराटत्व सब मिलकर यहाँ एक महिमा व्याप्ति प्राप्त करत है । अन्यत्र एक स्थन पर यक्ष न मघ स उन्नत-अवनत होकर अभ्यन्तरस्थ जलराशि को निस्तब्ध कर पाषाणवत दृढीभूत हो हरगौरी क मणिमय तट पर आरोहण क निमित्त सापान का काय करन का अनुरोध किया है

> भगीभक्त्या विरचितवपु स्तम्भितान्तर्जलौघ
> सोपानत्व कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ (६०)

'ऋतुसहार काव्य म शरत्-वणना क प्रसग में कवि कहता है

> व्योम क्वचिद्रजत शख मृणाल-गौरै-
> स्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतश प्रयातै ।
> सलक्ष्यते पवन-वेग चलै पयोदै-
> राजेव चामर - वरैरुपवीज्यमान ॥ (४)

अखण्ड योग के भीतर से ही वे चित्त को मुक्ति प्रदान करते हैं—यही उनका विशेषत्व है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में देख पाते हैं

उदय - गूढ - शशांक - मरीचिभि-
स्तमसि दूरमित प्रतिसारिते।
अलक - सयमनादिव लोचने
हरति मे हरिवाहन - दिङ्मुखम् ॥

'चन्द्र अभी तक उदित नहीं हुआ है—वह अभी तक 'उदय-गूढ' है, उस उदय-गूढ चन्द्र के उद्भास से अन्धकार-राशि दूर प्रतिसारित होने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि मुख के ऊपर से अलक-भार सयमन करने पर दिग्वधू का मुख आँखों के सम्मुख प्रतिभासित हो गया।' चन्द्र का उदयगूढ उद्भास ही मानो दिग्वधू की सौम्योज्ज्वल मुखकान्ति है—अन्धकार-राशि ही माना उसका अलक-भार है।' 'विक्रमोर्वशीय नाटक में ही अन्यत्र राजा कहते है

विद्युल्लेखा-कनक रुचिर-श्रीवितान ममाभ्रो'—

'विद्युल्लेखा के कनक-सूत्र से मानो माथे के ऊपर घन बादलों का चँदोवा ताना गया है।'

'रघुवंश' में देख पाते हैं—राजा दिलीप ने पुत्र लाभ की कामना से रानी सुदक्षिणा के साथ रथारोहण कर वशिष्ठ के तपोवन की ओर प्रस्थान किया। ऊपर नीले आकाश के गात्र में शुभ्र बलाका श्रेणी ईषत् उन्नमित एवं अवनमित होकर उड रही थी—

श्रेणीबन्धाद् वितन्वद्भिरस्तम्भा तोरण-स्रजम्।
सारसं कलनिर्ह्रादं क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ (१।४१)

'अपने कल-निनाद से आकाश को गुंजाते हुए वह शुभ्र सारसमाला स्तम्भरहित तोरणमाला की तरह उड रही थी। राजा और रानी दोनों ही भौंचक्कर उसे देख रहे थे।' उसके बाद पुनः देख पाते हैं—'सन्ध्या के घिर आने पर वशिष्ठ ऋषि की होमधेनु नन्दिनी जङ्गल से पुनः आश्रम में लौट आयी है, उस पल्लव स्निग्धा पाटलवर्णा नन्दिनी के ललाट पर ईषत्-कुञ्चित श्वेत रोमराजि था मानो पाटलवर्णा सन्ध्या के आकाश-भाल पर नवोदित चन्द्र का तिलक हो—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लव - स्निग्ध - पाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ (१।८३)

यहाँ एवं इसके परवर्ती कई वर्णनों में हम ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की होमधेनु

वह पाटलवर्णा गाभी नन्दिनी ऐसी लग रही थी, मानो दिन एवं रजनी की मध्यवर्तिनी पाटलवर्णा मूर्तिमती सन्ध्या हो।''—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन
प्रत्युद्गता पार्थिव धर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनु-
र्दिनक्षपा - मध्यगतेव सन्ध्या ॥ (२।२०)

उपमा द्वारा उपमान के संस्पर्श से उपमेय को महिमान्वित बनाने की चेष्टा कालिदास के बहुत-से श्लोकों में हम देख सकते हैं। अज एवं इन्दुमती विवाह के समय जब यज्ञीय होमाग्नि की प्रदक्षिणा कर रहे थे, तब—

प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानो-
रुदर्चिषस् - तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्त्तमान-
मन्योन्य - संसक्त-महस्त्रियामम् ॥ (७।२४)

'प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय उक्त दम्पती मानो मेरु के निकट अन्योन्यसंसक्त दिनयामिनी की तरह सुशोभित हो रहे थे।' दिन एवं रजनी मानो आँचल में गाँठ बाँधकर प्रदक्षिणा कर रहे हों और बीच में यज्ञाग्निरूप सुमेरु स्थित हो। सुमेरु को यज्ञाग्नि कहने में भी यथेष्ट सार्थकता है। दिन एवं रात्रि का मिलन होता है, प्रभात एवं सन्ध्या समय। दोनों समय ही सूर्य की आरक्तिम किरणें पर्वत-गात्र पर प्रतिफलित होती हैं, पर्वत शिखर उस समय ऐसा लगता है मानो अभ्रभेदी ज्वलन्त अग्निकुण्ड हो। वह अग्निकुण्ड ही मानो दिन रजनी के मिलन क्षण की साक्षीभूत होमाग्नि हो। ठीक यही श्लोक 'कुमारसम्भव' में हर पार्वती द्वारा यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करते समय फिर देखे पाते हैं।

अनेक स्थानों पर इस महिमा की व्यंजना कालिदास अत्यन्त अल्प आयास एवं अल्प शब्दों में कर पाये हैं। हिमालय के वर्णन प्रसंग में 'कुमारसम्भव' में कवि ने मुनियों के मुख में कहलवाया है

मनसः शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नतिः। (६।६६)

'तुम्हारे मन और शिखरों, दोनों की समुन्नति एक ही समान है।' मुनियों ने और भी कहा है— तुम्हारी नदियाँ (गंगादि) एवं कीर्ति दोनों ही लोक को पवित्र करती हैं'—

पुनन्ति लोकान् पुण्यत्वात् कीर्त्तयः सरितश्च ते। (६।६६)

उपमा-प्रयोग के द्वारा कालिदास अनेक समय ऐसी चित्तविस्फाररूपिणी चमत्कृति की सृष्टि कर देते हैं कि श्लीलता अश्लीलता का प्रश्न वहाँ एकदम अवान्तर हो जाता है। इस तरह की अनेक उपमाओं पर हमने पहले ही विचार किया है (पूर्वमेघ ४१/६३)। 'कुमारसम्भव' में अकालवसन्त में श्याम वन-स्थली में सहसा फूट पडने वाले किंशुकों का वर्णन करते हुए कहा है :

बालेन्दु - वक्राण्यविकाशभावा-
द्बभु पलाशान्यति - लोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागताना
नख - क्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ (३।२९)

'पलाश के पुष्प अभी भी पूर्णतः नहीं खिल पाये है—वे बालेन्दुवक्र एवं अति रक्तवर्ण है, मानो वसन्तसंगता वनस्थली के गात्र पर सद्यःकृत नखक्षत है।'

'शृंगार-तिलक'* में देख पाते हैं, एक नारी सखियों से कह रही है—'बहुत दिनों के प्रवास के बाद प्रियतम लौटकर आये— प्रवास की कहानी सुनते-सुनते, बातों-बातों में ही आधी रात बीत गई, तत्पश्चात् जब मैंने लीला-कलह-कोप का सूत्रपात किया, तभी पूर्व दिशा सौत की तरह लाल हो उठी'—

सपत्नीव प्राची दिगियमभवत्तावदरुणा ।

प्रिय-मिलन के सुख से रक्तारुण प्रभात किस तरह नारी को वंचित करता है, यह इस एक ही उत्प्रेक्षा में स्पष्टतम रूप में प्रकट हो गया है—'प्राची सौत की तरह लाल हो जाती है।'

---

* 'शृंगार-तिलक' प्रभृति काव्य कालिदास द्वारा रचित नहीं हैं, यही पंडितों का मत है, किन्तु यह उत्प्रेक्षा कालिदास की उत्प्रेक्षाओं की जाति की ही है, इसीलिए यहाँ इसका विवेचन किया गया है।

कालिदास की उपमाओं में तुलनात्मक चित्र

कालिदास की कुछ उपमाओं मे ऐसा लगता है कि मानो कवि ने बगल-बगल में दो चित्र अंकित किये है—ये दोनो चित्र मानो एक साथ ही हमारे चित्त को प्रभावित कर एक ही फल उत्पन्न करते है। जैसे 'रघुवंश' में देखते है—जब राजा दिलीप द्वारा सेविता होमधेनु नन्दिनी को सहसा माया-सिंह ने दबोच लिया, तब :

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं
धनुर्धरः केशरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ (२।२९)

'राजा ने देखा कि पाटलवर्णा धेनु पर बैठा हुआ सिंह ऐसा लग रहा है जैसे *पर्वत की धातुमयी अधित्यका मे एक प्रफुल्ल लोध्रद्रुम हो !'*

'रघुवंश मे' रघु की दिग्विजय के वर्णन मे कहा गया है :

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्द्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ (४।३७)

बगीय राजाओ को रघु ने पहले उन्मूलित किया एव फिर अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित *किया—'तब वे रघु के पाद-पद्म मे इस प्रकार समधिक प्रणत* हुए, जैसे धान के चारे फल-भार से पृथ्वी तक झुककर शस्यदान करते है—यदि उन्हें एक बार भूमि से उखाड कर पुनः भूमि मे रोपित किया जाये।'

इन्दुमती की स्वयवर-सभा मे युवराज अज प्रस्तर-सोपान का अतिक्रमण कर ऊपर चढ रहे है—'सोपान पार कर युवराज मच पर आरोहण कर रहे है—मानो चट्टानो पर पैर रखता हुआ सिंह-शावक पर्वत-शिखर पर आरोहण कर रहा हो'—

वैदर्भ - निर्दिष्टमसौ कुमारः
क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिला - विभंगैं मृगराजशाव-
स्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥ (६।३)

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं—'रावण द्वारा पीड़ित देवगण के विष्णु की शरण ग्रहण करने पर विष्णु रावण-वध का आश्वासन देकर अन्तर्धान हो गए, जैसे अनावृष्टि के कारण शुष्क शस्य को जलाभिषेक द्वारा सरस कर मेघ अन्तर्धान हो जाता है।' विष्णु मेघ है, रावण अनावृष्टि, और निपीड़ित देवगण शुष्क शस्य—

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ (१०।४८)

कुमारसम्भव में देख पाते हैं—'आगे-आगे चल रही हैं कनकप्रभा मातृकाएँ, उनके पीछे चल रही है सितकपालाभरणा काली—मानो, आगे चमक रही है स्वर्ण में विद्युत् और पीछे है नील मेघराजि, तथा उसके वक्ष में श्वेत बलाका-पंक्ति'—

तासाञ्च पश्चात् कनकप्रभाणां
काली कपालाभरणा चकाशे।
बलाकिनी नील - पयोदराजी
दूरं पुरःक्षिप्त - शतह्रदेव ॥ (७।३६)*

'रघुवंश' में देख पाते हैं कि 'राम को परशुराम के कोप से मुक्त देखकर राजा दशरथ को वैसा ही परितोष-लाभ हुआ—जैसे दावानल से बचे हुए वृक्ष को शीतल वृष्टिपात से होता है'—

तस्याभवत् क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलंघित - तरोरिव वृष्टिपातः ॥ (११।९२)

फिर देख पाते हैं कि 'समस्त विषय-स्नेह के भोग के बाद अन्तिम दशा-प्राप्त राजा दशरथ ऐसे लगते हैं, जैसे उषाकाल में समस्त स्नेह या तैल-भोग करने के बाद आसन्न-निर्वाण प्रदीप-शिखा!'—

निर्विष्टविषयस्नेहः सः दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ (१२।१)

इस तरह की उपमाओं में सर्वत्र ही यह लक्ष्य किया जा सकता है कि दोनों चित्र एकदम समजातीय है, एवं अगल-बगल में सजा दिये गए हैं। उप-मान का चित्र सर्वत्र ही उपमेय के चित्र का सर्वांगीण परिपोषक है।

---

* तुलना कीजिये—

ताडका चलकपालकुण्डला
कालिकेव निविडा बलाकिनी ॥—रघुवंश (११।१५)

कालिदास की उपमाओं मे चेतन-अचेतन का अद्वयत्व

उपमा-प्रभृति अर्थालकारो का एक प्रधान तत्व है अचेतन जड प्रकृति को चेतन के अनुरूप कल्पना करना। इसे हम मानवीयकरण या personification कह सकते हैं। संस्कृत के समासोक्ति अलकार के मूल्य मे भी जड प्रकृति का यह मानवीयकरण ही है। साहित्य का अवलम्बन प्रधानत मानव-जीवन है, बहिर्जगत् मे इस जीवन का साधर्म्य खोजन पर बहि प्रकृति के प्रवाह को हमार जीवन के इस प्रवाह से अभिन्न कर देखना पडता है। मानवीयकरण के मूल मे भी इस जीवन-धारा और सृष्टि-प्रवाह-धारा मे एक प्रच्छन्न ऐक्य बोध है। मनुष्य के चेतन धर्म मे बहि प्रकृति को इस प्रकार मनुष्य की तरह देखने की एक प्रच्छन्न वासना चिरकाल से चली आ रही है। इस वासना का नामकरण नरत्वारोप (anthropomorphism) कर सकते है। बहि प्रकृति को इस तरह मानव के दैहिक रूप और उसके अन्तरपुरुष के समतुल्य देखने की प्रवृत्ति मे एक गभीर आत्मोपलब्धि का आनन्द निहित है—उस आनन्द का ही रूपान्तर हम काव्य मे मानवीयकरण मे देख पाते है। मूक, बधिर, अचेतन प्रकृति को हम अपनी चेतना के द्वारा निरन्तर ज्ञात-अज्ञात रूप से जिस तरह प्राणवन्त बनाते है, उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप से काव्य के इस अर्थालकार द्वारा समझ सकते हैं। काव्य मे यहाँ पर हम केवल भावसवेग का सम्यक् प्रकाश देखकर ही आनन्दित नही होते, इसमे हमारा और भी एक प्राप्य रहता है—वह मानवीयकरण का आनन्द है—विश्वप्रकृति मे आत्मोपलब्धि का एक निगूढ आनन्द! जड और चेतन मे एक ही रूप एव एक ही जीवनधारा का आविष्कार कर हम अनजाने ही एक परम आत्मतृप्ति की उपलब्धि करते है।

काव्य मे मानवीयकरण द्वारा आत्मोपलब्धि का जो यह आनन्द है, वह काव्यानन्द से भिन्न जाति का नही है, काव्यानन्द के साथ उसका निविड योग है, इसीलिए वह काव्यानन्द से सम्पूर्ण पृथक् रूप से हम तृप्त नही करता। काव्यानन्द के अन्तर्गत सर्वदा ही आत्मोपलब्धि का आनन्द रहता है—विश्व-सृष्टि के सकल सौन्दर्य-माधुर्य, सकल क्षुद्रत्व विराटत्व, सकल प्रभु-ग्राम के माध्यम से प्रतिनियत साहित्य म हम अपनी आन्तर सत्ता की ही गम्भीर उप-

लब्धि करते है। हम लगता है कि साहित्य म मानवीयकरण के द्वारा आत्मानुभूति का जो आनन्द है, वह काव्य की इस आत्मानुभूति के मूल आनन्द को ही और भी बढा देता है—यही है काव्य मे मानवीयकरण की सार्थकता!

अत्यन्त प्राचीन युग के साहित्य मे हम देख पाते है कि असख्य देव-देवी, परी, जल कन्या-प्रभृति के रूप मे ही मानवीयकरण हुआ करता था। वनदेवी, जल-कन्या, परी-प्रभृति के आविर्भाव मे जगत् का मध्ययुगीन साहित्य भी भरा पडा है, किन्तु जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गए, वैसे वैसे साहित्य मे यह मानवीयकरण एक सूक्ष्म गम्भीर रूप ग्रहण करता गया। हम बहि प्रकृति मे देव-देवी का आविष्कार न कर बहि प्रकृति पर ही चेतना का आरोप करने लगे।

इस मानवीयकरण म भी कालिदास का एक स्पष्ट स्वातन्त्र्य है। कालिदास की आँखो क सम्मुख बहि प्रकृति मानो सर्वदा ही बिल्कुल सजीव एव सचेतन रहती थी। बहि प्रकृति के सम्बन्ध मे कालिदास की यह भाव दृष्टि किसी यूरोपीय प्रकृति-कवि के अनुरूप नही है। कालिदास ने कभी भी बहि प्रकृति मे किसी अशरीरी आत्मा का आविष्कार या आरोप नही किया, बहि प्रकृति उनके निकट एकान्त सजीव हो उठी है अपने सकल जैव प्राण-धर्मों से, अपनी समस्त चेतना के विलास म। इसमे कोई दार्शनिकता नही है—एक स्पष्ट एव दृढ विश्वास और वास्तविक अनुभूति है। 'मेघदूत' काव्य मे धूम-ज्योति -सलिल-मरुत् के सयोग से निर्मित केवल अचेतन मेघ ही दौत्य कार्य करता है, ऐसा नही—समग्र बहि प्रकृति ही विरही यक्ष एव उसकी विरहिणी प्रियतमा की समस्त वेदना, समस्त माधुर्य, कारुण्य एव वैचित्र्य को मानो बाँट लेती है—वल्कलावृता 'सरसिजमनुविद्ध शैवलेन', 'अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून', 'अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू' शकुन्तला भी तपोवन-दुहिता है, नगाधिराज हिमालय-दुहिता 'पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सचारिणी पल्लविनी लतेव' उमा भी प्रकृति-दुहिता है, सीता को तो कविगुरु वाल्मीकि ही प्रकृति दुहिता के रूप म चित्रित कर गए है।

कालिदास के काव्यो म अनेक स्थानो पर बहि प्रकृति ने मनुष्य के साथ समान रूप स काव्य के नायक-नायिकाओ का अश ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध म रवीन्द्रनाथ ने कहा है—'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटय म जिस तरह अनसूया, प्रियवदा, दुष्यन्त आदि पात्र है, उसी तरह तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र है। इस मूक प्रकृति को किसी नाटक मे इतना प्रधान, इतना अत्यावश्यक स्थान दिया जा सकता है, यह हमारे विचार से सस्कृत-साहित्य को

छोड़कर और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति को मनुष्य बनाकर उसके मुँह से वार्तालाप करवा कर रूपकनाट्य रचित हो सकता है—किन्तु प्रकृति को प्रकृति रखकर उसे इतना सजीव, इतना प्रत्यक्ष, इतना व्यापक, इतना अन्तरंग बना लेना और उसके द्वारा नाटक के इतने कार्य सिद्ध करवा लेना—यह तो मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखा।" 'शकुन्तला' के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने जो बात कही है, 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव' प्रभृति काव्यों के सबंध में भी प्रायः वही बात कही जा सकती है। इस तरह कालिदास के समस्त काव्यों में ही बहिःप्रकृति और मनुष्य में एक गम्भीर एकात्मबोध बना हुआ है। बहिःप्रकृति का वर्णन करते समय इसीलिए कवि ने उसे प्राण-धर्म, चेतना धर्म के द्वारा जीवन्त बना लिया है। 'कुमारसम्भव' में योग निमग्न महादेव के तपोवन में जब अकाल में वसन्त का आगमन हुआ, तब—

पर्याप्त - पुष्पस्तवक - स्तनाभ्यः
स्फुरत - प्रवालोष्ठ-मनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस् - तरवोऽप्यवापु—
विनम्रशाखा - भुजबन्धनानि ॥ (६।३६)

'लतावधूगण ने अपने यौवन के लावण्य प्राचुर्य में ही मानो तरुगण की विनम्र शाखाबाहुओं का बन्धन-लाभ किया था। प्रचुर पुष्प-स्तवक ही उनके स्तन-भार थे और अचिरोद्‌गत किसलय ही उनके लावण्ययुक्त मनोहर अधर, इस सौन्दर्य के प्राचुर्य के कारण ही माना वे प्रियतम के निकट सौभाग्यवती हो उठी थीं।' कुछ लक्ष्य करने पर ही देख पायेंगे, 'पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव' उमा के साथ इन समस्त लतावधुओं की एक निगूढ़ सजातीयता है।

'रघुवंश' में भी देख पाते हैं, जब राजकुमार एवं राजकुमारी इन्दुमती मिले, तब—

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वा
स राजसूनुः सुतरां चकाशे ।
अनन्तराशोक - लता प्रवालं
प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ (७।२१)

'सन्निहित अशोक-लता के नव पल्लव को प्रतिपल्लव के द्वारा विजड़ित कर सहकार तरु जिस तरह सुशोभित होता है, नव-परिणीता वधू का हाथ अपने हाथ में लेकर राजकुमार अज भी वैसे ही सुशोभित हुए।' इस उत्प्रेक्षा के पीछे भी

वृक्ष-लतादि के सम्बन्ध म एक मधुर मानवीयकरण की भावना है ।

कालिदास ने तरु-लता आदि का जो मानवीयकरण किया है, वह केवल कवि-प्रसिद्धि मात्र नही है, उसमे एक स्वतत्र चारुता है। मूक-बधिर प्रकृति म कवि ने केवल चिराचरित आलकारिक मतानुसार प्राण धर्म का आरोपण किया है, एसा नही, उसम कवि न मानव-जीवन के समस्त सूक्ष्म माधुर्य, समस्त गम्भीर रहस्यो का आविष्कार किया था । इसीलिए प्रस्तुत विषय पर अप्रस्तुत का व्यवहार आरोपित करन म भी कालिदास की कवि-प्रतिभा का सूक्ष्म नैपुण्य है। इस मानवीयकरण एव प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप के सूक्ष्म नैपुण्य द्वारा केवल काव्य का विषय ही सरस हो उठता है, ऐसा नही है, वहाँ विषय वस्तु की सरसता के साथ-साथ अभिव्यजना म भी एक अपूर्व चारता आ जाती है—अभिव्यजना की उस अपूर्व चारुता म ही अलकार की सार्थकता है। 'शकुन्तला' नाटक मे देख पाते है, जल-सेचन-रता शकुन्तला सखियो से कहती है—'**एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरावेइ बिअ म केसररुक्खओ, जाव ण सम्भावेमि**'—अर्थात् 'वातास-चचल पल्लव-रूपी अगुलि द्वारा छोटा-सा बकुल का पौधा मानो मुझे इशारे से पुकार रहा है—मैं उसका अनुरोध मान लूँ'— यह कह कर शकुन्तला बकुल के पास अग्रसर हुई । प्रियम्वदा बोली—'**हला सउन्दले एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअ चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो बिअ अअ केसर-रुक्खओ पडिभाइ** ।'—'हला शकुन्तले ! यही एक मुहूर्त के लिए खडी रहो, क्योंकि तुम्हारे पास रहन के कारण यह बकुल ऐसा लगता है जैसे कोई लता उससे लिपटी हुई हो ।'

अनसूया पुन शकुन्तला को पुकार कर कहती है—'हला शकुन्तले ! यह वही महकार की स्वयवरा वधू नवमालिका है, तुमने जिसका नाम रक्खा था 'वनज्योत्स्ना'— क्या उसे भूल गई हो ?' शकुन्तला बोली—'तब तो स्वय अपने को भूल जाना होगा ।' यह कहकर वह वनज्योत्स्ना के निकट गयी एव उसकी ओर दृष्टिपात कर बोली—

हला रमणीएक्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो सम्वुत्तो । णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धपल्लवदाए उवहोअक्खमो सहआरो ।—'हला, इस रमणीय ऋतु मे लतापादप मिथुन का समागम-काल उपस्थित है। नव-कुसुमयौवना यह वनज्योत्स्ना एव बहुपल्लव-हेतु सहकार तर भी उपभोगक्षम है।' यह कहकर शकुन्तला लतापादप मिथुन की तरफ देखती हुई खडी रही । शकुन्तला को इस अवस्था मे देखकर ईषत् मुसका प्रियम्वदा बोली—'अनसूय,

जानती हो, शकुन्तला क्यों वनज्योत्स्ना की ओर अपलक दृष्टि से देख रही है ?' अनसूया बोली—'मुझे तो नहीं मालूम, तुम्हीं बताओ !' प्रियम्वदा ने उत्तर दिया—जह वणजोसिणी अनुरूवेण पाअवेण सगदा अवि णाम एव्वं अह वि अत्तणो अणुरूव वरं लहेअं त्ति—अर्थात् 'जिस तरह वनज्योत्स्ना अपने अनुरूप पादप के साथ युक्त हुई है, वैसे ही क्या मैं भी अपने अनुरूप वर पा सकूँगी ? —यही सोचकर।'

ईषत्-चपल उस कुमारी तापस-कन्या के तीनों कथोपकथनों से यह स्पष्ट है कि वन-ज्योत्स्ना एवं सहकार तरु यहाँ मूक प्रकृति के केवल अ -मात्र नहीं हैं—उनके साथ यौवन की प्रच्छन्न आशा-आकांक्षाएँ हृदय में छिपाये हुए एक नवीन दम्पती का अभेद सिद्धान्त है, कुमारी-जीवन के उस स्वप्न, उस अभेद सिद्धान्त को अपने मूल में रख कर ही यह समस्त दृश्य इतना सजीव एवं सरस हो उठा है।

पहले ही कहा गया है कि कालिदास के काव्य में प्रकृति के साथ मनुष्य का जो योग है, उसमें परम आत्मीयता का बोध होता है। प्रकृति अपने किसी गम्भीर रहस्यमय आध्यात्मिक रूप में हमारे सामने उपस्थित नहीं होती, वह हमारे निकट अपना रक्त-मांस का कलेवर लेकर ही आती है। उस रक्त-मांस के यथार्थ रूप के साथ मानो हम लोगों का प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषतः सजीव तरु-लता एवं तरुलतावेष्टित तपोवन या वनस्थली, कालिदास के लिए सर्वदा ही सम्पूर्णतः सचेतन है। कालिदास के काव्य में मनुष्य सर्वदा इनके सुख-दुःख से ही सुखी एवं दुःखी होता है।

प्रकृति का मानवीयकरण एवं प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कितनी मधुरता से काव्य-सौन्दर्य के साथ युक्त किया जा सकता है, यह 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अंक की एक घटना से स्पष्ट हो जाता है। शकुन्तला के आश्रम से विदा होने के ठीक पहले दो ऋषि-बालकों ने अपने हाथों में नाना प्रकार के प्रसाधन-आभरण लेकर प्रवेश किया। गौतमी ने पूछा—'वत्स हारीत ! यह सब कहाँ से ले आये ?' प्रथम बालक ने उत्तर दिया—'तात कण्व के प्रभाव से।' गौतमी ने फिर पूछा—'तब क्या यह मानसी सिद्धि है ?' अर्थात् क्या महर्षि कण्व ने तप-प्रभाव से इन सबकी सृष्टि की है ?' द्वितीय बालक ने उत्तर दिया—'नहीं, नहीं···सुनिये; तात लोगों ने हमें यह आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिए वनस्पतियों से पुष्पादि ले आओ—हम लोगों ने जाकर देखा—

पर्याय मे रख कर अपने चित्रो मे उन्होने प्रकृति के प्रवाह को ग्रहण किया है।

केवल 'शकुन्तला' नाटक मे ही हम प्रकृति के साथ मनुष्य के इस आन्तरिक योग का सधान पाते हो, ऐसा नही; प्रकृति के साथ मनुष्य का यह घनिष्ठ सम्बन्ध, भाव का यह आदान-प्रदान कालिदास के काव्य मे प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। 'रघुवश' के द्वितीय सर्ग मे देख पाते हैं कि राजा दिलीप मुनि की धेनु की परिचर्या के लिए समस्त पार्श्वानुचरो का परित्याग कर वन मे विचरण करते थे; किन्तु कवि ने कहा है कि उस वनस्थली ने महाराज दिलीप को पार्श्वानुचर-विहीन रूप से विचरण नही करने दिया—

> विसृष्ट - पार्श्वानुचरस्य तस्य
> पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
> उदीरयामासु - रिवोन्मदानां
> आलोकशब्दं वयसा विरावैः॥ (२।८)

'वरुण-सदृश महाराज दिलीप द्वारा समस्त पार्श्वानुचरो का परित्याग करने पर भी वन के वृक्ष-समूह ही उनके पार्श्वचर बन गए थे; उन्मद विहग-काकली के द्वारा वे सब सम्मिलित रूप मे महाराज दिलीप की जय-ध्वनि करने लगे।'

केवल तरुण वृक्ष श्रेणीबद्ध रूप से खडे होकर पार्श्वचर की तरह जय-ध्वनि करते हो, इतना ही नही था—

> मरुत् - प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं
> तमर्च्यमारा - दभिवर्तमानम्।
> अवाकिरन् बाललता प्रसूनै-
> राचारलाजैरिव पौर-कन्या॥ (२।१०)

'अग्नि की प्रतिमूर्ति राजा दिलीप के मस्तक पर उस वनस्थली मे भी पौर-कन्याओ द्वारा लाजा-वर्षण हुआ था—समीरण-द्वारा ईषत्-आन्दोलित बाल-लताओ ने पौर कन्याओ की तरह उनके मस्तक पर शुभ्र प्रसूनो की लाजाजलि अर्पित की थी।' राजा यहाँ 'मरुत्सखाभ' अर्थात् अग्नि की प्रतिमूर्ति हैं, और अग्नि-सदृश राजा के आगमन पर वायु उनमे स्वय मिलने आयी थी। वह वायु मानो राजदर्शन से उत्पन्न आनन्द का बन्धनहीन प्रवाह-मात्र थी, जिसने बाल-लता-रूपी पौरकन्याओ के हाथो से शुभ्र फूलो की लाजाजलि बरसा दी।

केवल आनन्द के दिनो में ही प्रकृति ऐसी अभ्यर्थना करती है, ऐसा नही, मनुष्य के दुख मे भी उसकी गम्भीर समवेदना रहती है। इन्दुमती के विरह मे राजा अज जिस दिन करुण स्वर मे रो उठे थे, उस दिन भी—

विलपन्निति कोसलधिप
करुणार्थग्रथित प्रिया प्रति ।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि,
स्तुतशाखारस-वाष्प-दूषितान् ॥ (८।७०)

'प्रिया के लिए कोसलाधिपति जब करुण वाक्य कहकर बहुत विलाप करने लगे, तब उस विलाप से वृक्षों की आँखो मे भी आँसू भर आये और शाखा रस के रूप म मानो आँसू ही बहने लगे ।'

रामचन्द्र ने भी मीता के साथ विमान म लका से लौटते समय उनसे कहा था—

एतद्गिरे - र्माल्यवतः पुरस्ताद्
आविर्भवत्यम्बरलेखि शृगम् ।
नव पयो यत्र घनैर्मया च
त्वदविप्रयोगाश्रु सम विसृष्टम् ॥ (१३।२६)

'यह देखो, सामने माल्यवान् पर्वत के ये अभ्रभेदी शिखर आँखों के निकट ही चले आ रहे हैं। यहाँ तुम्हारे वियोग में मैंने बहुत आँसू बहाये है और सजल नवीन मेघ भी यहाँ मेरे साथ बहुत आँसू बहाया करता था।' माल्यवान् के शिखर पर मैं और मेघ समान रूप मे तुम्हारे विरह में अश्रु विमजन करते थे—'त्वद्विप्रयोगाश्रुसम विसृष्टम् !'

लक्ष्मण ने जिस दिन सीता को जाह्नवी के किनारे ले जाकर उन्हे राम द्वारा उनके निर्वासन की आज्ञा सुनायी थी, उस दिन धरणीसुता सीता वाताहना वल्लरी की तरह धरती माता की गोद में ही लोट गई थी—

ततोऽभिषगा - निलविप्र - विद्धा
प्रभ्रश्य - मानाभरण - प्रसूना ।
स्वमूर्त्तिलाभ - प्रकृति धरित्रीं
लतेव सीता सहसा जगाम ॥ (१४।५४)

"उस विपत्ति की वायु से आहत सीता अपने रत्नाकार रूप कुसुमों का परित्याग कर, लता की तरह अपनी माता धरित्री की गोद में पछाड खाकर गिर पड़ीं।' करुणा को कवि और भी कितना करुण बना सकते हैं ! धरती माता भी विपत्ति के आघात से भूलुण्ठिता अनाथ कन्या की इस तीव्र वेदना से आकुल हो उठीं। सीता ने एक क्षण के लिए धैर्य धर कर लक्ष्मण से बहुत-सी बातें कही थीं, किन्तु जब लक्ष्मण धीरे धीरे आँखों की ओट मे चले गए, तो

बाणविद्धा कुररी की तरह सीता फूट फूट कर रो पडी । तब करुण-विल
सीता के उस हृदय विदारक क्रन्दन से समस्त वनस्थली भी मानो सह
उठी—

नृत्य मयूरा कुसुमानि वृक्षा-
दर्भानुपात्तान् विजहु - र्हरिण्य ।
तस्या प्रपन्ने समदु खभावम्
अत्यन्तमासीद् - रुदित वनेऽपि ।। (१४।६६)

'मारो न नाचना छोड दिया, वृक्षा से भर-भर कर कुसुम भडन
हरिणो के मुँह से आधा चबाया हुआ कुश-गुच्छ गिर पडा । सारी वन
ही मानो सवेदना मे सीता की तरह आकुल हो अश्रु-विसर्जन करन लगी

'मेघदूत' म विरही यक्ष भी कहता है—

मामाकाश - प्रणिहितभुज निर्दयाश्लेषहेतो
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु ।
पश्यन्तीना न खलु बहुशो न स्थलीदेवताना
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशा पतन्ति ।।

(उ० मे०

'ह प्रियतमे ! स्वप्न म अत्यन्त कष्ट स तुम्ह प्राप्त कर प्रगाढ आलिंग
लिए जब शून्य में अपनी युगल भुजाओं को प्रसारित करता हूँ, तब यह देख
वन-दवता प्रचुर अश्रु वपरण नहीं करत हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि तरु-पल
के बडे-बडे मोतियों-स आँसू बदला स चू पडते है ।'

'कुमारसम्भव' म देख पाते है—'प्रबल झझामयी वृष्टि के समय भी
वृत स्थान म शिलातलशायिनी उमा को माना उसकी इस महान् तपस्या
साक्षिणी होन के लिए रजनी अपन विद्युत् के नयन उन्मीलित कर दे
लगी —

शिलाशया तामनिकेत - वासिनी
निरन्तरास्वन्तर - वातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस् - तडिन्मयै-
र्महातप साक्ष्य इव स्थिता क्षपा ।। (५।२५)

यह केवल वर्णन ही नहीं है, प्रत्युत कथन के द्वारा मानो मूर्त हो उठ
मनुष्य के साथ विश्व-प्रकृति का अन्तरतम योग । कोमलांगी उमा पार्वत्य वि
म रात्रि के घने अँधेरे म भी ऐसी कठोर तपस्या कर रही है, इसे देखने के ि

और कोई नही था, अपनी विद्युन्मयी दृष्टि द्वारा उस महा तपस्या की साक्षिणी बनी वह झंझामयी महानिशा !

कालिदास न बहि प्रकृति और मनुष्य के गम्भीर आत्मीयता-बोध को लेकर उपमाओं के जितने चित्र खीचे हैं, उनमे एक अभिनव चित्र है छोटी-छोटी तरुलताओं के सम्बन्ध म नारी की महिमामयी मातृमूर्त्ति का। हमने 'शकुन्तला' नाटक के प्रथम अक मे दखा है, अनसूया से शकुन्तला ने छोटे-छोट तरुओ और लताओ के सम्बन्ध मे कहा था .

ण केअलं ताद-णिओओ एव्व, अत्थि मे सोदरसिणेहबि एदेसु ।

'केवल तात कण्व की आज्ञा ही नही, इनके साथ मेरा अपना भी सोदर स्नेह है'—यह कह कर शकुन्तला न उन छोटी-छोटी लताओ की जडो को अपनी कलसी के जल से सीचा। अन्यत्र कवि ने कहा है कि 'यह जल-सिंचन मानो मातृवक्ष का स्नेह-सिंचन हो, मानो घट रूप स्तन से मातृवक्ष का दुग्ध-सिंचन हो।' 'कुमारसम्भव' म तपस्वी उमा के रूप मे स्पष्ट हो उठी है कुमारी की महिमामयी वह मातृमूर्ति

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तन - प्रस्रवणै - र्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषा प्रथमाप्तजन्मना
न पुत्रवात्सल्य - मपाकरिष्यति ॥ (५।१४)

'तपस्विनी उमा घट-रूपी स्तन क प्रस्रवण द्वारा स्वय ही छोटे-छोट वृक्षो को बडा करने लगी। उन वृक्ष शिशुओं के ऊपर कुमारी उमा का ऐसा पुत्रवत् वात्सल्य-भाव हो गया था कि बाद म कुमार कार्तिक भी उस पुत्र-वात्सल्य को कम नही कर सके।' 'रघुवश' म भी देख पाते है, माया सिंह राजा दिलीप से कहता है

अमु पुर' पश्यसि देवदारु
पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भ - स्तननि सृताना
स्कन्दस्य मातु' पयसा रसज्ञ ॥ (२।३६)

'इस दूरवर्त्ती देवदारु को देख रहे हैं क्या ? वृषभध्वज शिव ने उसे अपना पुत्र मान लिया है। यह दवदारु कुमार स्कन्द की माता पार्वती के हेमकुम्भ-रूपी स्तनो से नि सृत दुग्धधारा का आस्वाद प्राप्त कर सका है।' नारी के मातृ-हृदय के साथ प्रकृति माता के दुलारे इन छोटे छोटे वृक्षो और लताओ का

कितना निविड सयोग हो सकता है, यह इस तरह और कही नही देख पाये है—'हेमकुम्भस्तननि सृताना पयसा रसज्ञ'। इसके द्वारा केवल प्रकृति और मनुष्य की गम्भीर आत्मीयता का ही प्रकाश हुआ हो, ऐसा नही है, इसके द्वारा प्रकट हुई है विश्व-नारीहृदय मे सचित अक्षय मातृत्व की स्नेहमयी महिमामयी मूर्ति। इसके बाद के ही श्लोक मे देख पाते हैं :

> कण्डूयमानेन कट कदाचित्
> वन्यद्विपेनो - न्मथिता त्वगस्य।
> अथैनमद्रे - स्तनया शुशोच
> सेनान्य - मालीढ - मिवासुरास्त्रै. ॥ (२।३७)

'एक दिन एक वन्य हाथी ने अपने शरीर से रगडकर उस देवदारु की थोडी छाल उतार दी थी, तब उसके लिए गिरिदुहिता पार्वती को ठीक वैसा ही शोक हुआ था जैसा शोक हुआ था उन्हे असुरो द्वारा क्षत-विक्षत कुमार कार्तिक के शरीर को देखकर।'

निर्वासिता सीता से भी महर्षि वाल्मीकि ने कहा था—

> पयोघटै - राश्रम - बालवृक्षान्
> सवर्धयन्ती स्वबलानुरूपै.।
> असंशय प्राक्तनयोपपत्ते.
> स्तनन्धय - प्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ (१४।७८)

'हे सीते, तुम अपनी शक्ति के अनुसार जल का घडा लेकर आश्रम के छोटे-छोटे वृक्षो को सीचकर निश्चय ही सन्तान-जन्म के पूर्व ही स्तन्यदान की प्रसन्नता प्राप्त करोगी।'

स्नेहमयी नारी के लिए बाल-वृक्ष को छोटी कलसी मे सीचकर बडा करने मे जो एक अनिर्वचनीय माधुर्यपूर्ण महिमा है, वह कवि कालिदास की आँखों के समक्ष जितनी स्पष्ट थी, हमारी समझ म उतनी और किसी के निकट नही।

जड-प्रकृति केवल बाहरी रूप मे ही मनुष्य तथा समस्त प्राणि-जगत् के समकक्ष हो उठती है, ऐसा नही है, मनुष्य के महत्तर गुण-समूह मे भी मनुष्य के साथ इस जड मे प्रकृति का जो सायुज्य है, वह कभी कालिदास की दृष्टि मे अगोचर नही था। 'रघुवश' मे देख पाते है कि महाराज दिलीप प्रजागण के सर्वविध हित के लिए प्रजा से कर ग्रहण करते थे। कवि का कथन है कि प्रकृति म भी दृष्टान्त पाया जाता है—

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः (१।१८)

'सूर्य जिस तरह पृथ्वी में जहाँ भी जैसा अपरिष्कृत, अपरिशुद्ध, दुर्गन्धयुक्त जल है, सबको अपने किरणरूपी राजकर्मचारियों की सहायता से ग्रहण करता है। किन्तु प्रतिदान में जो स्वच्छ-शुद्ध वारिधारा लौटा देता है, वह गृहीत धन से हजार गुना अधिक है।' 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में भी देख पाते हैं—'राजा रघु ने प्रजा से जो कुछ सम्पत्ति ग्रहण की थी, विश्वजित् यज्ञ कर दक्षिणा के रूप में उन्होंने उस समस्त धन को फिर लौटा दिया था।' कवि कहता है, 'जो सद्व्यवित है, वे प्रदान के लिए ही ग्रहण करते हैं—जैसे भाप के रूप में ग्रहण करने वाला एवं धारा के रूप में बरसाने वाला मेघ'—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्व-दक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ (४।८६)

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पंचम अंक में देख पाते हैं—यूथपति हाथी जिस तरह कड़ी धूप में अपने यूथ के साथ विचरण कर मध्याह्न में कुछ समय के लिए छाया में विश्राम ग्रहण करता है, महाराज दुष्यन्त भी उसी तरह दिन-भर राजकार्य कर कुछ विश्राम के लिए भीतर गये। उसी समय आश्रम से समागत मुनिगण एवं शकुन्तला का सम्वाद राजा को देने में कंचुकी इतस्ततः कर रहा था, किन्तु दूसरे क्षण ही फिर उसने सोचा—'अथवा अविश्रमो लोक-तन्त्राधिकारः'; अर्थात् लोकतन्त्राधिकारी के लिए विश्राम नहीं है—

भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहित - भूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥

'एक ही बार अपने रथ में घोड़े जोतकर सूर्य अबतक चला जा रहा है, गन्धवह वायु रात-दिन बहती ही रहती है, शेषनाग सर्वदा ही भूमि का भार वहन करते हैं, षष्ठांशवृत्ति राजा का भी यही धर्म है।' इसके बाद वैतालिक राजा दुष्यन्त का यशोगान करते हैं :

स्व-सुख-निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवं विधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

'हे महाराज! अपने सुख के लिए निरभिलाष होकर आप प्रतिदिन प्रजा

के लिए क्लेश वरण करते हैं, अथवा आपके सदृश व्यक्तियों का जन्म मानो ऐसे ही कार्य करने के लिए होता है, वृक्ष अपने माथे पर प्रखर सूर्यकिरणें झेलते हैं, किन्तु उनके नीचे जो आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में वे जरा-सा भी ताप नहीं लगने देते—सबको अपनी शीतल छाया ही प्रदान करते हैं। शार्ङ्गरव ने भी राजा दुष्यन्त का विनय देखकर कहा था :

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

'तरुगण फलागम से झुक जाते हैं, नवजल-भार से मेघ झुक जाते हैं, समृद्धि में भी सत्पुरुष अनुद्धत रहते हैं—परोपकारियों का यही स्वभाव है !'

अमूर्त मानसिक अवस्था-प्रकाशन और कालिदास की उपमा

उपमा पर विचार करते समय हमने पहले ही कहा है कि उपमा भाषा का चित्र-धर्म है, और यह बात भी हमने स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि हमारी बोध-क्रिया सम्पूर्णतः नहीं, तो अधिकांशतः निर्भर करती है भाषा के चित्र-धर्म पर। एकदम शुद्ध शब्द-जन्य ज्ञान के सिद्धान्त को हम व्यावहारिक क्षेत्र मे स्वीकार नही कर सकते। इसके अतिरिक्त हमने इस बात का भी आभास दिया है कि शुद्ध 'शब्द' के इतिहास के पीछे भी कहाँ कौन-सी प्राकृतिक वस्तु या घटना की अनुकृति छिपी है, यह भी सम्भवत हम आज भूल गए हैं—आज सम्भवत वायुमण्डल के ध्वनि-कम्पन के साथ-साथ वह हमारे अचेतन लोक मे ही भूल रही है। अवश्य ही जब हम वस्तु का बोध करते हैं, तब उस ज्ञान-क्रिया म वस्तु का यथार्थ रूप ही रहता है, अथवा उसके सम्बन्ध मे गठित केवल मानसिक वृत्ति ही रहती है, अथवा उसको हम केवल शब्द-जन्य ज्ञान द्वारा ही समझ लेते हैं—इसे लेकर पण्डित-मण्डली म यथेष्ट मतभेद है, किन्तु उन समस्त सूक्ष्म तर्कों के जाल म प्रविष्ट न होकर भी साधारण बुद्धि से हम देख सकते है कि उसी वस्तु को हम सबसे अच्छी तरह समझ पाते है, जो हमारे मानस-लोक म एकान्त प्रत्यक्ष होकर उभर आती है। इसीलिए अपने वस्तु-वियोजित अमूर्त्त विचारो को हम जितना ही रूप के द्वारा मूर्त्त बना सकते हैं, हमारी बोध-क्रिया उतनी ही सहज हो जाती है। इस प्रत्यक्षी-करण के लिए ही उपमादि अलकार एक के बाद एक छवि अङ्कित करते रहते हैं। यहाँ तक कि साधारण चित्त-वृत्ति को भी हम जब एक यथार्थ चित्र का रूप दे पाते हैं, तभी वह हमारे निकट सर्वाधिक स्पष्ट हो उठती है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे देख पाते है—शकुन्तला से प्रथम साक्षात्कार के बाद राजा दुष्यन्त के मन मे नगर लौट जाने की इच्छा नही हो रही है, हृदय जैसे पीछे छूटी आश्रमवासिनी शकुन्तला के प्रति ही आकृष्ट होकर रह गया है, अथच शरीर को आगे ले जाना पड रहा है। मन की इस प्रतिकूल अवस्था

को कालिदास ने एक ही उपमा की सहायता से स्पष्ट किया है

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥

'शरीर आगे की ओर चल रहा है—असंस्थित चित्त पीछे की ओर दौड रहा है—ठीक जैसे सम्मुख नीयमान पताका का सूक्ष्म रेशमी वस्त्र प्रतिकूल वायु से पीछे उडता रहता है।' नवीन प्रेमासक्त हृदय का प्रत्येक सूक्ष्म स्पन्दन मानो इस प्रतिकूल वायु मे नीयमान चीनांशुक के प्रत्येक कम्पन मे हमारे निकट प्रत्यक्ष हो गया है।

पंचम अंक मे आर्या गौतमी एवं शार्ङ्गरव प्रभृति मुनिगण ने शकुन्तला के साथ राज-सभा मे प्रवेश कर शकुन्तला का परिचय दुष्यन्त की पूर्व-विवाहिता पत्नी के रूप मे दिया, तब राजा उसे पहचान नही पाये, किन्तु उसके अनुपम रूप से आकृष्ट होकर उसका परित्याग भी नही कर पा रहे थे। शकुन्तला पूर्व-विवाहिता पत्नी है कि नही, इसका स्मरण न होने पर उसे ग्रहण भी नही कर पा रहे थे। राजा की यह मानसिक अवस्था ठीक जैसे एक अन्तस्तुषार कुन्द के चारो ओर मँडराने वाले भौंरे की तरह थी। कुन्द के अन्तःस्थित तुषार के कारण उसके वक्ष के मधु का भोग भी भ्रमर नही कर पाता और कुन्द के मधु-लोभ से आकृष्ट हो किसी भी तरह उसका परित्याग भी नही कर पाता। शकुन्तला-रूपी कुन्द-कुसुम का वक्ष मानो विस्मृति-रूपी तुषार से ढक गया है—इसीलिए उसे ग्रहण भी नही कर पा रहा है और उस अनुपम कान्त माधुर्य का परित्याग भी नही कर पा रहा है

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥

स्मारक अंगूठी को पाकर शकुन्तला के विरह मे कातर दुष्यन्त विदूषक से कहता है—'शकुन्तला से मेरा मिलन स्वप्न था, अथवा माया, या मतिभ्रम—कुछ भी समझ नहीं पाता हूँ—अथवा वह मिलन मेरा परिमित किंचित् पुण्य का फल मात्र था, वह शकुन्तला अब नहीं लौटेगी—सब समाप्त हो गया—अब शकुन्तला के सम्बन्ध मे मेरे सब मनोरथ ही तट-प्रपात की तरह हैं—

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्त्यै तदतीत - मेते
मनोरथा नाम तटप्रपाता ॥

'प्रतिकूल स्रोत के आघात से तट भूमि जिस तरह धीरे धीरे टूट कर धँस जाती है, शकुन्तला क सम्बन्ध म मेरे समस्त अभिलाष भी अब वैसे ही एक के बाद एक भग्न हो जायेंगे।'

इसी नाटक क अन्त म देख पाते है—राजा दुष्यन्त महर्षि मारीच से कह रहे है—मैं शकुन्तला को देखकर, उसके मुख से समस्त पूर्वकथा सुनकर भी कुछ स्मरण नही कर पाया, अन्त में अँगूठी देखने पर मेरी समस्त स्मृति लौट आयी।

✓यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नतिक्रामति सशय स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकार ॥

'ठीक जैसे हाथी जब सामने आया, तो लगा कि यह हाथी नही है, वह जब चला गया, तो मन म सन्देह जागा, उसके बाद पद-चिह्न को देखकर विश्वास हुआ कि यह हाथी ही था!—मेरे मन का विकार भी ठीक ऐसा ही था।' हाथी को प्रत्यक्ष देखकर नही पहचान पाया—कवल पद चिह्न देख कर पहचान सका कि जो सामने स चला गया, वह हाथी ही था! सामने आकर राजसभा म शकुन्तला खडी हुई थी—उसने कितन पूर्व-परिचय दिये थे—किन्तु उस दिन किसी भी तरह उस पहचान न पाया, बाद में उसे पहचान सका हाथ की अँगूठी देखकर!

महर्षि मारीच क आश्रम म धृतैकवेणी तपस्विनी शकुन्तला के चरण-तल म लोटकर दुष्यन्त न कहा था

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेश-व्यलीकमपैतु ते
किमपि मनस सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसा - मेवप्राया शुभेषु हि वृत्तय
स्रजमपि शिरस्यन्ध क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥

'हे सुतनु! प्रत्याख्यान-जनित दुख एव क्षोभ को हृदय स दूर कर दो! मालूम नही, तब कैसा सम्मोह मेरे हृदय म प्रबल हो उठा था। प्रबलतमसा-

च्छन्न व्यक्तियों की शुभ कार्य में ऐसी ही मानसिक अवस्था हुआ करती है—अन्धे के गले में फूलों की माला डाल देने पर भी वह साँप की आशंका से उसे दूर फेंक देता है।'

'मेघदूत' में विरही यक्ष मेघ से कहता है :

> ताञ्चावश्यं दिवसगणना तत्परामेकपत्नी-
> मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
> आशाबन्धः कुसुम-सदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
> सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

'हे मेघ ! अबाध गति से आगे बढ़ते जाने पर तुम अपनी पतिव्रता भाभी को देख पाओगे; वह अभी तक जीवित है एवं मेरे लिए दिन गिन-गिन कर समय बिता रही है। वृन्त जैसे झरने वाले फूल को भी झर कर मिट्टी में मिलने देना नहीं चाहता—उस वृन्त के साथ झरने वाले फूल का दृष्टि एवं मन से अगोचर जो एक रहस्यमय सम्बन्ध है—वही मानो विरही हृदय की आशा का रूप है।'

'कुमारसम्भव' में देख पाते है—

महादेव ब्राह्मण ब्रह्मचारी के छद्मवेश मे आकर कठोर तपस्या-रता उमा को तपस्या से विमुख करने के लिए प्रचुर शिव-निन्दा करते है। पहले उमा बहुत प्रतिवाद करती है, किन्तु वाचाल, चपल ब्राह्मण किसी भी तरह हार नही मान रहा है, यह देखकर उमा वहाँ से अन्यत्र जाने का उपक्रम करती है, किन्तु वेग-वशात: उनका स्तन-वल्कल खिसक जाता है, तब महादेव अपनी मूर्त्ति धारण कर हँसते हुए उमा को पकड़ लेते है। तब :

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
> निक्षेपणाय पदमुद्धृत - मुद्वहन्ती।
> मार्गाचल - व्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥ (५।८५)

'महादेव को सम्मुख देखकर घर्माक्तकलेवरा कम्पान्विता गिरिराजनन्दिनी आगे जाने के लिए चरण को ऊपर उठाकर भी, जा भी न सकी, रह भी न सकी—'न ययौ न तस्थौ'—ठीक जैसे पथ के बीच ही पर्वत के द्वारा प्रतिरुद्ध-गति व्याकुला नदी हो।' उमा के हृदय में जो युगपत् प्रवाहित क्रोध, आनन्द, लज्जा एवं सकोच के भाव थे, वह उनमें से किसी को भी, प्रकट भी नहीं कर पा रही थी, रोक भी नहीं पा रही थी। सामने खड़े हुए महादेव कल-प्रवाहिता

सिन्धु के सामने अचल पाषाण-स्तूप की तरह थे। उमा की केवल बाहरी गति में ही बाधा पड़ी हो, ऐसा नहीं है, उसके आन्तरिक प्रवाह में भी बाधा पडी है। इसीलिए पर्वत-प्रतिरुद्धा नदी की तरह गिरिराजसुता 'न ययौ न तस्थौ'। पर्वत के द्वारा सहसा प्रतिरुद्ध होने पर भी नदी जिस तरह सम्मुख और अग्रसर न हो सकने पर अन्तर्वेग के कारण केवल अपने भीतर ही उमडती रहती है, गिरिराजसुता उमा का अन्तर्निबद्ध भाव सवेग भी उसी तरह मानो उमड पड रहा था।

'मालविकाग्निमित्र' में देख पाते हैं—विदूषक ने जब निकट ही दण्डायमान मालविका का सन्धान दिया, तब राजा ने कहा

त्वदुपलभ्य समीपगता प्रिया
हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृता पथिकस्य जलार्थिन
सरित - मार - सितादिव सारसात्॥

'तुमसे समीपगता प्रिया की बात सुनकर मेरा कातर हृदय उसी प्रकार पुन उच्छ्वसित हो उठा है, जैसे पिपासार्थ जलान्वषी पथिक सारस के कलरव से समीपवर्ती तरुराजि समावृत जलाशय का सधान प्राप्त कर उच्छ्वसित हो उठता है।'

'विक्रमोर्वशीय' में देखते है, मूर्च्छाभंग के बाद उर्वशी का कोमल तनु जैसे तट-पतन-कलुषा गंगा की पुन प्रशान्त मूर्त्ति हो

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गंगा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥

और उर्वशी जब आकाश में अन्तर्धान हुई, तब राजा विक्रम ने कहा

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्
सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥

'सुरागना उर्वशी मेरी देह से मन को ठीक उसी तरह खींच ले गई, जैसे राजहंसी खण्डिताग्र मृणाल से खींच लेती है सूक्ष्म मृणाल सूत्रों को।'

'रघुवंश' में देख पाते हैं कि जब एक सुरागना हरिणी का रूप धारण कर अपने कामोद्दीपक विलास विभ्रम से तपोमग्न ऋषि के चित्त में चाञ्चल्य उत्पन्न कर तपस्या में विघ्न डालने की चेष्टा करती है, तब अपने तप प्रभाव

से ऋषि समस्त भेद जान जाते हैं एवं उनके ध्यान समाहित प्रशान्त चित में सहसा क्रोध का उद्रेक होता है और ऋषि उसे शाप देते हैं। तपोमग्न ऋषि के योग-समाहित चित्त में तपोभंग का यह विक्षेप जैसे प्रशान्त सागर तट पर प्रलय-तरंगों का आघात हो

स तपः प्रतिबन्धमन्युना
प्रमुखाविष्कृत - चारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां
शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ (८।८०)

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं—अभिशापमुक्त गन्धर्वकुमार राजा अज से कहता है

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चात्
मया महर्षि - र्मृदुतामगच्छत्।
उष्णत्व - मग्न्यातप - संप्रयोगात्
शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य॥ (५।५४)

'बाद में जब मैंने प्रणत होकर महर्षि से प्रार्थना की, तो वे शान्त होकर मुझ पर प्रसन्न हुए, जल में उष्णत्व तो अग्नि-संयोग के कारण ही आता है, किन्तु शीतलता ही है जल की प्रकृति।' यहाँ स्वभाव-शीतल, तपस्वी-प्रकृति हमारे निकट प्रत्यक्ष हो उठी है। आकाशगामी नारद की वीणा से च्युत दिव्य माला के स्पर्श से चेतनाहीन इन्दुमती को अपनी गोद में लेकर राजा अज विलाप कर रहे हैं

तदपोहितुमर्हसि प्रिये
प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
ज्वलितेन गुहागतं तम
स्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ (८।५४)

'हे प्रिये! तुम सचेतन होकर तत्क्षण ही मेरे समस्त विषाद को उसी तरह दूर कर दे सकती हो, जिस तरह रात में सहसा प्रज्वलन के द्वारा ओषधियाँ हिमालय के गुहागत अन्धकार को क्षण-भर में दूर कर देती हैं।'

त्रयोदश सर्ग में सीता को निकट बैठाकर विमान द्वारा अयोध्या लौटते समय श्री रामचन्द्र उनसे कह रहे हैं

क्वचित् पथा संचरते सुराणां
क्वचिद् घनानां पततां क्वचिच्च।

यथाविधो मे मनसोऽभिलाष.
प्रवर्त्तते पश्य तथा विमानम् ॥ (१३।१९)

'हे सीते ! हम लोगो का यह विमान कभी आकाश मे देवताओ के पथ पर चलता है, कभी मेघो के पथ पर चलता है और कभी विहगमो के विचरण-पथ पर, आज मेरे मन की अभिलाषाएँ जिस तरह घूम फिरकर बकिम गति से चल रही है, उसी तरह उडा जा रहा है हम लोगो का यह विमान भी।' आज सीता का उद्धार कर चौदह वर्षो के बाद उसे निकट बैठाकर रामचन्द्र अयोध्या की ओर जा रहे है, बकिम गति से अनेक पथो पर घूमने-फिरने वाली उनकी अभिलाषाएँ मानो अनेक पथो पर विचरण करने वाले इस विमान के रूप मे मूर्त हो उठी है।

हम लोग जिन्हे साधारणत वस्तु-वियोजित या अमूर्त गुण कहकर एक दम रूप-वर्णहीन समझते है, उनमे बाहरी तौर पर कोई रूप या वर्ण नही है, यह सच है, किन्तु अनेक क्षत्रो मे हमारे मन मे उनके भी रूप एव वर्ण रहते है। अवश्य ही अनेक स्थानो पर इन समस्त गुणो के रूप या गुण विशेषण-विपर्यय (transfferred epithet) मात्र है। जैसे हमारे विषाद मग्न मुख की म्लानता लेकर ही हमारे दु ख का रूप काला हो उठा है, हमारे व्रीडा-रक्तिम मुख की लालिमा मलकर ही मानो लज्जा आप ही लाल हो उठी है, तथैव हमारी आनन्दोज्ज्वल मुख कान्ति से सश्लिष्ट होकर ही हमारी हँसी ने शुभ्रवर्ण धारण किया है। सस्कृत आलकारिको के द्वारा जिनका कवि-समय के रूप मे उल्लेख हुआ है, अनेक क्षेत्रो मे वे विशेषण-विपर्यय ही है। 'रघुवश' म देख पाते हैं कि राजकुमार अज ने अपने प्रतिद्वन्द्वी राजाओ को परास्त कर विजय-शख बजाया। कवि कहता है—'राजकुमार न जब विजय-वार्ता की घोषणा करने के लिए अपने ओष्ठ शुभ्र शख पर रखे, तब ऐसा लगा कि वीर कुमार मानो स्वहस्तोपार्जित मूर्त्त यशोराशि का ही पान कर रहे हैं'—

तत प्रियोपात्त - रसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलज कुमार ।
तेन स्वहस्तार्जित - मेकवीर
पिबन् यशो मूर्त्तमिवावभासे ॥ (७।६३)

श्वेत शख मानो मूर्त शुभ्र यशोराशि हो ! केवल इसी म उत्प्रेक्षा का समस्त माधुर्य है, ऐसा नही, थोडा विचार करने पर यह दीख पडेगा कि राजकुमार अज की यशोराशि जैसे एक धवल शख म मूर्त्त हो उठी है, वैसे

ही अज का शौर्य-वीर्य भी इस एक उत्प्रेक्षा मे बहुत-कुछ मूर्त्त हो गया है। 'रघुवश' के द्वितीय सर्ग म भी देख पाते है—'वशिष्ठ के आश्रम मे वशिष्ठ की आज्ञा पाकर अत्यन्त तृष्णार्त्त राजा दिलीप न बछडे के पीने के बाद बचा हुआ नन्दिनी का दूध पीकर प्यास बुझायी। नन्दिनी की उस शुभ्र दुग्धधारा का पान कर राजा ने जैसे मूत्त यशोराशि का ही पान किया'—

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा
सद्वत्सलो वत्स-हुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञ
शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्ण ॥ (२।६९)

'रघुवश' के चतुर्थ सर्ग म देख पाते है—वीरकेशरी रघुराज ने शरत् के समागम पर विजय अभियान किया, तब—

हसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयाना पर्यस्ता यशसामिव ॥ (४।१९)

'श्वेत हसमाला, श्वेत नक्षत्रराज, शुभ्र कुमुद-पुष्प, शरत् की शुभ्र जल-राशि—इन सब के भीतर मानो राजा रघु की यशोविभूति ही विकीर्ण हो रही थी।'

किन्तु हमारे इस कोटि के अशरीरी गुण या मानसिक भाव किस वस्तु के सग एक नित्य सम्बन्ध के कारण विशेष रूप या वर्ण ग्रहण करते है, यह अत्यन्त कौतूहलप्रद है। सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी रक्तकमलवर्णा है—विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती कुन्देन्दु-धवला। इसके पीछे भी सूक्ष्म कारण है। सम्पत्ति मे जो तरल आनन्द है, जो गर्वन्विमत्तता है, जो रजोगुणोचित्त उत्तेजना है, वह हमारे चित्त को ठीक उसी तरह आन्दोलित करती है, जिस तरह रक्तकमलवर्ण हमारे चित्त मे स्पन्दन जगाता है। और ज्ञान में जो स्वच्छता है, जो विशुद्धता है, जो सात्त्विक उज्ज्वलता है, जो गम्भीर प्रशान्ति है, वह हमारे चित्त को निर्मल प्रशान्ति म भर देती है—कुन्देन्दुधवल कान्ति! इसीलिए तो देखते है—कवि ने उमा की प्राक्तन विद्या की तुलना की है शरत् की गगा मे शुभ्र हसमाला के साथ, और रात्रि मे ओषधि के आत्मभास के साथ।

अलंकारों में सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य का विवेचन

उपमा के सम्बन्ध मे विचार करते समय और एक बात सहज ही दृष्टि-गोचर होती है कि हम तब तक सामान्य (General) सत्य को स्पष्टता-पूर्वक नही समझ पाते, जब तक उसे किसी विशेष म प्रत्यक्ष नही कर लेते। जो दुर्ज्ञेय तत्त्व के घन जगल म निरुद्ध हो उठता है, वही एक छोटी-सी उपमा मे उन्मुक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य 'विशेष' से वियोजित 'सामान्य' पर विचार करने का अभ्यस्त नही है, उस मानसिक वियोजन (abstraction) मे मन के ऊपर एक बल-प्रयोग होता है जो साधारण मन के लिए क्लेश-साध्य है। इसीलिए 'सामान्य' से 'विशेष' पर पहुँचकर केवल हमारी जानी हुई वस्तु ही सहज हो उठती है, ऐसा नही, बोध-क्रिया के इस सहजत्व के द्वारा एक सुखमयत्व, एक ह्लादजनकता आ जाती है, इसीलिए तुलना, उदाहरण या दृष्टान्त के बिना हमारा मन कुछ भी समझ कर सन्तुष्ट नही होता—इसीलिए वह समझना भी नही चाहता। और 'विशेष' के सम्बन्ध म सम्यक् प्रतीति-लाभ करने के लिए हमें विशेष के समूह से उत्पन्न जो 'सामान्य' है, उसकी शरण लेनी पड़ती है। इस 'सामान्य' के समर्थन से विशेष के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्पष्टतर हो उठता है। इसीलिए हमारे विचारो में 'सामान्य' से 'विशेष' एव 'विशेष' म 'सामान्य' के प्रति आवागमन लगा रहता है। पहले ही कहा गया है कि इस प्रकार के विशेष द्वारा सामान्य का या सामान्य द्वारा विशेष का, कारण द्वारा कार्य का अथवा कार्य द्वारा कारण का समर्थन करने को ही आलकारिकों ने 'अर्थान्तरन्यास' के नाम से पुकारा है। कालिदास ने अनेक बार अपने अलकार-प्रयोग द्वारा 'सामान्य' को विशेष की सहायता से स्पष्ट किया है और 'विशेष' को 'सामान्य' के द्वारा पुष्ट किया है। 'कुमारसम्भव' के प्रारम्भ मे कवि कहता है—'अनन्तरत्नप्रभवकारी हिमालय के सौन्दर्य को उसका तुषार विलुप्त नहीं करता, क्योंकि बहुत से गुणों मे एक दोष डूब जाता है—जैसे चन्द्र की किरण-राशि मे उसका कलक-चिह्न'—

अनन्त - रत्न - प्रभवस्य यस्य
हिम न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाक ॥ (१।३)

यहाँ देखने है कि पहले 'अनन्तरत्नप्रसू हिमालय का सौन्दर्य हिम को विलुप्त नही कर सकता है,' इस 'विशेष' का समर्थन किया गया—'एक दोष गुण-समूह मे डूब जाता है'—इस 'सामान्य' के द्वारा, फिर इस 'सामान्य' का समर्थन किया एक दूसरे 'विशेष' की सहायता से—'चन्द्र की किरणराशि मे जिस तरह उसका कलक-चिह्न डूब जाता है।'

'मालविकाग्निमित्र' म देख पाते है—मालविका गुरु-द्वारा उपदिष्ट अभिनय आदि कलाओ मे अत्यन्त निपुण हो गई है। गुरु गणदास कहते हैं

पात्रविशेषे न्यस्त गुणान्तर व्रजति शिल्पमाधातु ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलता पयोदस्य ॥

'कलागुरु की शिक्षा यदि पात्रविशेष मे न्यस्त हो, तो वह अनेक गुना बढ जाती है, जैसे मेघ का जल समुद्र की सीप म पडकर मोती बन जाता है।'

अयत्र राजा अग्निमित्र विदूषक से कहते है—

अर्थं सप्रतिबन्ध प्रभुरधिगन्तु सहायवानेव ।
दृश्य तमसि न पश्यति दीपेन बिना सचक्षुरपि ॥

'उपयुक्त सहायक के रहने पर ही प्रभु बाधा विपत्ति के रहने पर भी अपना अभिप्राय सिद्ध कर सकते है, प्रदीप न रहने पर चक्षुष्मान् व्यक्ति अन्धकार म दृश्य वस्तु को नही देख सकता।' 'रघुवश' के अज-विलाप म देख पाते है

अथवा मृदुवस्तु हिंसितु
मृदुनैवारभते प्रजान्तक
हिमसेकविपत्तिरत्र मे
नलिनी पूर्व-निदर्शन मता ॥ (८।४५)

'अथवा प्रजान्तक काल मृदु वस्तुओ को मृदु वस्तु द्वारा ही नष्ट करता है, तुषार पात स कमल का विनाश इसका प्रकृष्ट उदाहरण है।'

कालिदास के बहुत से अर्थान्तरन्यास अलकारो ने परिवर्त्ती काल मे लोकोक्तियो की मर्यादा प्राप्त की। जैसे 'मेघदूत' म यक्ष मेघ के निकट अपनी प्रार्थना व्यक्त करता हुआ कहता है

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ (पू० मे० ६)

'अधिक गुण-युक्त पुरुष के निकट की गई प्रार्थना निष्फल होने पर भी उचित है; अधम के निकट लब्धकाम होने पर भी उचित नहीं ।'

'मेघदूत' में ही अन्यत्र पाते हैं :

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

(पू० मे० ५३)

'उत्तम व्यक्तियों की सम्पत्ति आपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की आर्ति के प्रशमन के लिए ही होती है ।'

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्ना ।

'ऐसा कौन व्यक्ति है जो निष्फल कार्य का उद्योगी होने पर भी तिरस्कार का भागी नहीं बनता ?'

'कुमारसम्भव' में हिमालय के वर्णन में देखते हैं

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु
लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्व - मुच्चैः शिरसा सतीव ॥ (१।१२)

'यह हिमालय दिन-भीत गुहालीन अन्धकार की सूर्य से रक्षा करता है; क्षुद्र भी यदि महान् व्यक्तियों के शरणापन्न हो तो भी सज्जनोचित ममत्व ही दृष्टि-गोचर होता है ।'

हिमालय के जिस निर्जन प्रदेश में महादेव अपनी योग-साधना में निमग्न रहते थे, वहाँ आकर पार्वती पाद्यादि द्वारा उनकी सेवा करती थी । योग-तत्पर होने पर भी महादेव ने पार्वती के इस सेवा कार्य में बाधा नहीं दी—

प्रत्यर्थिभूतामपि ता समाधेः
शुश्रूषमाणा गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ (१।५९)

'महादेव ने पार्वती को समाधि में विघ्न-स्वरूप जानकर भी उनकी सेवा सुश्रूषा स्वीकार कर ली, *क्योंकि विकार के कारण रहने पर भी जिनके चित्त में किसी* प्रकार का विकार नहीं होता, वे ही तो वास्तविक धीर हैं ।'

शिव की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव का प्रयोजन था, वह कामदेव जब स्विपथत हुआ, तब इन्द्र ने सहस्र नेत्र देवताओं का परित्याग कर उस पर

पडे, क्योंकि—

प्रयोजना - पेक्षितया प्रभूणा
प्रायश्चल गौरवमाश्रितेषु ॥ (३।१)

'प्राय ही देखा जाता है कि आश्रित जनो के प्रति प्रभुओ का जो गौरव भाव है, वह *प्रयोजन के अनुसार चचल होता है अर्थात् प्रयोजन* के अनुसार ही ह्रास या वृद्धि को प्राप्त करता है '

अकाल वसन्त के वर्णन म देखते है

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकार
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेत ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणाना
पराड मुखी विश्वसृज प्रवृत्ति ॥ (३।२८)

'वर्णप्रकर्ष रहन पर भी कर्णिकार ने निर्गन्धता के कारण चित्त सन्तप्त किया था, देखा जाता है कि विधाता की प्रवृत्ति गुण समूह की समग्रता का विधान करन म प्राय पराड मुखी है।'

फिर देखते हैं मेनका अनेक प्रकार के उपदेश देकर स्थिर सकल्पा कन्या पार्वती को तपस्या से विमुख नहीं कर सकी, क्योंकि—

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चय मन
पयश्च निम्नाभिमुख प्रतीपयेत् ॥ (५।५)

'जिसका मन अभीष्टार्थ म स्थिर सकल्प हो गया है, उसके मन को, और निम्नाभिमुखी जल को, कौन विमुख कर सकता है ? यहाँ प्रतीप के साथ ही अर्थान्तरन्यास है।

कालिदास की उपमा मे मौलिकता और शुचिता

कालिदास की उपमा की प्रधान महत्ता है उसकी विचित्रता एव मौलिकता। कवि ने अपनी कल्पना को किसी सीमाबद्ध राज पथ पर नही चालित किया है। उत्तुग पर्वत, दुर्गम वनराजि, सीमाहीन वारिधि, विराट् आकाश, बन्धनहीन वारिद, तरुलता, फल-फूल, पशु-पक्षी—मनुष्य, उसका जीवन, उसका स्नेह-प्रेम, शौर्य-वीर्य, शिल्प ज्ञान, याग-यज्ञ, धर्म-कर्म आदि समस्त विषयो को लेकर विश्व-सृष्टि ने ही मानो अपनी विपुल समग्रता के साथ एक विशेष रूप ग्रहण किया था—कवि के वासना-राज्य म आश्रय ग्रहण कर। जगत् को एव जीवन को उन्होंने एव स्वतन्त्र दृष्टि से विशेष रूप मे अनुभव किया था। उस समस्त दर्शन ने, समस्त अनुभूति ने ही पुन काव्य मे रूप पाया समग्रता के वैचित्र्य म। प्रकृति के माध्यम से उन्होने ऐसे अनेक चित्र भी अकित किये हैं, जिनको आजकल हम यवनिका के अतराल मे कुछ आच्छन्न रखकर उपस्थित करना चाहते हैं, किन्तु दूसरी ओर उनके विचारो की मगलमय शुभ्रता—उनका उच्च आध्यात्मिक स्वर हम श्रद्धावनत कर देता है। सुरसप्त के निम्नतम स्वर से आरम्भ कर, मध्यम सप्त का अतिक्रमण कर, तारसप्त के सर्वोच्च स्वर तक पहुँचने म भी कवि को कही भी प्रयास नही करना पडता। इस आरोह-अवरोह मे कही भी कृत्रिमता नही है, सभी बात उनके निकट अत्यन्त सहजसाध्य थी—सर्वत्र ही सावलील छन्द पाया जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' मे रानी धरिणी जब सन्यासिनी कौशिकी के साथ सुशोभित हो रही थी तब राजा ने कहा

> मगलालकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
> त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥

'मगल अलकारो स भूषिता रानी की बगल म यतिवेश धारिणी कौशिकी को देखकर लगता है कि विग्रहवती त्रिगुणात्मिका वेदविद्या मानो अध्यात्म विद्या क साथ सुशोभित हो रही है।' रानी स्वय भी मगलालकृता है, उनकी

सम्पदा के साथ, राजशक्ति के साथ, योग हुआ है मागल्य का, इसीलिए वे त्रिगुणात्मिका वेद-विद्या सन्यासिनी कौशिकी है विग्रहवती वेदान्त-विद्या । इसके बाद देख पाते है परिव्राजिका कौशिकी राजा को आशीर्वाद दे रही है .

महासारप्रसवयो सदृशक्षमयो - र्द्वयो ।
धारिणी भूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥

'भूतधात्री वसुन्धरा जैसे बहुमूल्य रत्न प्रसवा है, वह जैसे सर्वक्षमा है, वैसे ही वीरपुत्र-प्रसविनी एव धरित्री की तरह सहनशीला तुम्हारी यह रानी 'धरणी' है , तुम सौ वर्षो तक इन दोनो के स्वामी होकर जीवित रहो ।' धरित्री की तरह रत्नगर्भा एव धरणी की तरह सहनशीला रानी की मूर्ति मानो एक अनिर्वचनीय महिमा से दीप्त हो उठी है ।

'रघुवश' मे देख पाते है—'साध्वियो में अग्रगण्य महाराज दिलीप की धर्मपत्नी सुदक्षिणा होमधेनु नन्दिनी के पवित्र पाद-स्पर्श से पावन धूलिमय पथ पर, उसका अनुसरण कर, चल रही है—लगता है जैसे मूर्तिमती स्मृति मूर्तिमती श्रुति के अर्थरूपी पथ का अनुसरण कर रही है'—

तस्या खुरन्यास - पवित्रपाशु-
मपांशुलाना धुरि - कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वर - धर्मपत्नी
श्रुतेरिवार्थं स्मृति - रन्वगच्छत् ॥ (२।२)

रानी सुदक्षिणा को साक्षात् श्रुति की अनुगामिनी स्मृति कहकर सम्बोधित करने के लिए किस तरह रानी को प्रस्तुत करना चाहिए, यह कालिदास को ज्ञात था , इसीलिए पहले कवि ने क्षेत्र तैयार किया और फिर यह चित्र आँका । सुदक्षिणा एक ओर 'अपांशुलाना धुरि कीर्तनीया' है, दूसरी ओर 'मनुष्येश्वर- धर्मपत्नी'—इसीलिए वह रानी होम-धेनु नन्दिनी के पीछे साक्षात् स्मृति-स्वरूपिणी है । होमधेनु नन्दिनी के सम्बन्ध मे देख पाते हैं—

ता देवतापित्रतिथि - क्रियार्था-
मन्वग्ययौ मध्यम - लोकपाल ।
बभौ च सा तेन सता मतेन
श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना ॥ (२।१६)

पृथ्वीपालक दिलीप देवतालोक, पितृलोक एव अतिथिगण के प्रति कर्तव्यसाधन की सहाय-रूपिणी नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे थे ; सज्जनो के निकट भी सम्माननीय राजा दिलीप द्वारा अशेष श्रद्धा-सहित सेव्यमाना नन्दिनी

एसी लग रही थी, मानो सज्जनगण समर्थित विधि के साथ शोभमाना साक्षात् श्रद्धा हो।'

'रघुवंश' म श्रीराम प्रभृति के जन्म वर्णन म देख पाते है—पतिपरायणा अग्रमहिषी कौशल्या की कोख से राम का जन्म रात्रि म ओषधि से तमोनाशक ज्योति के आविर्भाव-तुल्य है —

अथाग्रयमहिषी राज्ञ प्रसूतिसमये सती।
पुत्र तमोऽपह लेभे नक्त ज्योतिरिवौषधि ॥ (१०।६६)

'भरत ने माता कैकेयी की गोद वैसे ही सुशोभित की, जैसे विनय सुशोभित करता है श्री को —

जनयित्रीमलञ्चक्रे य प्रश्रय इव श्रियम् ॥ (१०।७०)

'माता सुमित्रा ने दो पुत्र प्रसव किये—लक्ष्मण और शत्रुघ्न, जैसे सम्यक् आराधिता विद्या जन्म देती है—प्रज्ञा और विनय को —

सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ (१०।७१)

महाराज कुश एव महारानी कुमुद्वती के पुत्र जन्म पर कवि ने लिखा है—रात्रि के शेष प्रहर म मनुष्य को जैसे प्रसन्न चेतना प्राप्त होती है, उसी तरह रानी को पुत्र-लाभ हुआ —

अतिथिं नाम काकुत्स्थात पुत्र प्राप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यमिनीयामात प्रसादमिव चेतना॥ (१७।१)

महर्षि वाल्मीकि जब आश्रमवासी ब्रह्मचारिणी सीता एव उनके शिशु पुत्रद्वय के साथ राज-सभा म उपस्थित हुए तब लगा कि एक परम ऋषि मानो उदात्तादि स्वर विशुद्धियुक्ता गायत्री के साथ उदीयमान सूर्य के सम्मुखीन हुए —

स्वरसस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिष सूर्यं राम मुनिरुपस्थित ॥ (१५।७६)

महर्षि वाल्मीकि के साथ परम पवित्र सीता जैसे मूर्तिमती गायत्री हो उस गायत्री-कल्पा जननी के पास पुत्रद्वय जैसे गायत्री की उदात्त आदि की स्वर शुद्धि हो। सम्मुखस्थ रामचन्द्र जैसे उदीयमान सूर्य हो—महर्षि वाल्मीकि की आश्रिता सीता की मूर्ति यहाँ एक अनिर्वचनीय पवित्र महिमा से भर उठी है।

महर्षि मारीच ने अपने तपोवन मे धृतैकवेणी शकुन्तला कुमार सर्वदमन एव राजा दुष्यन्त को देखकर कहा था

दिष्टया शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिद भवान्।
श्रद्धा वित्त विधिश्चेति त्रितय तत समागतम्॥

'साध्वी तपस्विनी शकुन्तला जैसे साक्षात् श्रद्धा और राजा दुष्यन्त जैसे साक्षात् विधि—उस विधि एव परम श्रद्धा के मिलन मे जैसे सर्वदमन-रूपी मूर्तिमान् वित्त ने जन्म ग्रहण किया है।'

'रघुवश' मे देख पाते है, राजा दिलीप ने ढलती उमर मे निन्यानवेवाँ महायज्ञ पूर्ण करने के बाद सासारिक विषयो से पूर्णरूपेण निवृत्त होकर युवा पुत्र रघु को यथाविधि राज्य प्रदान किया। 'वीर्यवान् रघु राजशक्ति प्राप्त कर अधिकतर प्रदीप्त हो उठे—जैसे अधिक प्रदीप्त हो उठता है हुताशन, जब उसमे दिनान्त के उपरान्त सूर्य का तेज निहित होता है—

स राज्य गुरुणा दत्त प्रतिपद्याधिक बभौ।
दिनान्ते निहित तेज सवित्रेव हुताशन ॥ (४।१)

वृद्ध होने पर पुन राजा रघु जब योग्य राजकुमार अज को राज्यभार अर्पित कर सन्यास ग्रहण कर रहे थे, तब

प्रशमस्थित - पूर्वपार्थिव,
कुलमभ्युद्यत - नूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुला-
मुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ (८।१५)

'एक ओर पूर्वराजा का प्रशमन दूसरी ओर नवीन राजा का अभ्युदय, राजकुल जैसे अस्तमितप्राय चन्द्र एव उदीयमान सूर्ययुक्त आकाश की तरह सुशोभित हो रहा था।'

वृद्ध राजा रघु न सन्यास के चिह्न धारण किये, एव युवराज अज ने राजचिह्न, वे लोग जैसे पृथ्वी म धर्म के 'अपवर्ग' एव 'अभ्युदय' इन दोनो अशो की प्रतिमूर्ति थे (८।१६)। तत्पश्चात् एक ओर युवराज अज अजितपद प्राप्त करने की इच्छा स नीतिविशारद मन्त्रियो से मिले, और दूसरी ओर वृद्ध राजा रघु मोक्षपदप्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी योगियो से (८।१७)। एक ओर युवराज अज ने प्रजा के हानि-लाभ का पर्यवेक्षण करने के लिए सिंहासनारोहण किया, दूसरी ओर वृद्ध राजा रघु भी अपने चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए वन म पवित्र कुशासन पर आसीन हुए (८।१८)। एक ओर राजकुमार अज ने अपन राज्य के निकटवर्ती समस्त राजाओ को अपनी प्रभुशक्तिसम्पदा द्वारा वशवर्ती किया, दूसरी ओर रघु न समाधि योग के अभ्यास द्वारा अपने शरीरगत पचवायु का नियन्त्रण किया (८।१९), एक ओर युवराज अज शत्रुओ की सकल प्रतिकूल चेष्टाओ को भस्मसात् करने लगे, दूसरी ओर

रघु ज्ञानाग्नि द्वारा अपने समस्त कर्मफल भस्मसात् करने में प्रवृत्त हुए (८।२०)। सन्धि-विग्रह प्रभृति छहों गुणों के फलों पर विचार कर अज उनका प्रयोग करने लगे; रघु ने भी मृत्तिका एवं कांचन के प्रति समदृष्टि होकर गुणत्रय को जीत लिया (८।२१)। स्थिरकर्मा नवीन भूपति फलोदय न होने तक कुछ भी क्यों न हो, कर्म से विरत नहीं होते थे; और स्थितधी वृद्ध राजा भी परमात्म-दर्शन के पूर्व पर्यन्त योगविधि में शान्त नहीं हुए (८।२२)।

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च
प्रतिषिद्ध-प्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयो-
रुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः॥ (८।२३)

'इस तरह पिता-पुत्र में एक ने शत्रु का एवं दूसरे ने इन्द्रिय की स्वार्थ-प्रवृत्ति का निवारण कर, एक ने अभ्युदय एवं दूसरे ने अपवर्ग के प्रति आसक्त होकर, अपने-अपने अनुरूप सिद्धि प्राप्त की।'

इन श्लोकों के द्वारा कवि ने मनुष्य के प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-धर्म को जैसे अज एवं वृद्ध नरपति कुमार के रूप में सचमुच मूर्त्त कर दिया है। कुछ विचार करने पर ही देख पायेंगे कि समस्त तुलनाओं में निहित है गुण-कर्म का एक परस्पर-विरोधी पार्थक्य। दोनों ओर इन परस्पर-विरोधी गुण-कर्मों को सजा कर परस्पर वैपरीत्य के माध्यम से अत्यन्त स्पष्ट रूप से दो चित्र अंकित किये गए हैं।

उपसंहार

हमने कालिदास के काव्य-वारिधि से केवल कुछ उपमा रत्नों की परख की। कालिदास के काव्य में इस प्रकार की उपमाओं को विशेष यत्नपूर्वक खोजकर नहीं निकालना पड़ता—काव्य ग्रन्थ खोलने से ही दो एक उपमा अपने आप दृष्टि मे पड जाती हैं। 'रघुवंश' लिखना आरम्भ करने पर कुछ समय तक केवल उपमा के द्वारा ही कवि ने काव्य आगे बढ़ाया है। सर्वप्रथम उन्होंने वागर्थ के सदृश नित्य संयुक्त पार्वती परमेश्वर को प्रणाम किया। क्षुद्र शक्ति लेकर विशाल सूर्यवंश की कहानी के रचना प्रयास की तुलना बेडे से सागर पार करने की चेष्टा के साथ की, मन्द कवियश प्रार्थी स्वयं को चन्द्रलोभ के निमित्त उद्बाहु वामन की तरह उपहास-योग्य बताया। वाल्मीकि प्रभृति पूर्ववर्ती ऋषियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर काव्य रचना के सम्बन्ध मे कहा—'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'— अर्थात् 'वज्र (हीरकादि मणि वेधक) के द्वारा विद्ध कठिन मणि के भीतर जैसे सूत्र की गति हो।' बाह्य जगत् के समस्त दृश्य, गन्ध, गान आदि सब समय ही इस तरह कवि के मन में भीड़ किये रहते हैं कि 'इव' एवं 'एव' के बिना कवि कोई बात ही नहीं कर सकता। किन्तु यह जो उनके समस्त काव्य में सर्वत्र 'इव' एवं 'एव' की भरमार है उसमें कभी भी ऐसा नहीं लगता कि कहीं भी ज्यादती की गई है अथवा कृत्रिम अलंकार प्रयोग के आप्राण परिश्रम द्वारा कवि स्वयं ही हाँफ गया है एवं काव्य को भी अतिरिक्त अलंकार भार से एकदम लाद दिया गया है। उपमा प्रयोग कालिदास की स्वाभाविक वचनभंगी है। एक ही श्लोक में जब कवि ने एकदम उपमा की माला पिरो दी है वहाँ भी उस चातुर्य में एक चमत्कारित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसे मेघदूत में उत्तर मेघ के प्रथम श्लोक में कहा गया है

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

आकाश के मेघ एव अलकापुरी के प्रासाद एकदम समान रूप मे तुलनीय हैं, श्लोक मे यही बात कही गई है। मेघ मे है विद्युत्—अलका के प्रत्येक प्रासाद मे हैं ललित वनिताएँ, जो विद्युत् की ही तरह लास्यमयी एव अपनी रूप-प्रभा मे आँखो को चकाचौंध करनेवाली हैं, मेघ मे है इन्द्रधनुष, प्रासादो मे है विचित्र वर्णों का चित्रण, मेघ की है स्निग्ध गम्भीर ध्वनि, और अलका के प्रासाद-प्रासाद म है सगीत के लिए प्रहत मृदग का गुरु-मद्र रव, जैसे मेघ अन्तस्तोय है, अर्थात् जलपूर्ण होने के कारण तरलाकार है, अलका के प्रासादो के मणिमय स्वच्छ आँगन भी ठीक वैसे ही हैं, मेघ जैसे गगन-स्पर्शी है, प्रासाद भी वैसे ही गगनस्पर्शी हैं, इसलिए सब ओर से वे समान हैं।

आलकारिको के सूक्ष्म विचार से कालिदास के उपमा-प्रयोगो मे अनेक गुणो के साथ कही-कही कुछ छोटे छोटे दोष भी निकल सकते हैं। यहाँ तक कि महादेव के ईषत् चित्त चाचल्य के दृश्य के सम्बन्ध मे भी आलकारिक दृष्टि से यह आपत्ति की जा सकती है कि यहाँ एक ही श्लोक मे दो प्रधान उपमाओ का प्रयोग किया गया है—एक है चन्द्रोदय के आरम्भ मे अम्बुराशि से किंचित् परिलुप्तधैर्य महादेव की तुलना, दूसरी है उमा के अधरोष्ठ से बिम्ब-फल की तुलना। आलकारिको के सूक्ष्म विचार से यहाँ यह अभियोग लगाया जा सकता है कि हमारा मन दो दृश्यो के प्रति युगपत् आकृष्ट होने के कारण किसी दृश्य की रसानुभूति सम्पूर्ण रूपेण नही हो सकती। किन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा यह वक्तव्य है कि कालिदास की उपमा की मौलिकता, सूक्ष्मता, गम्भीरता से उसके वैचित्र्य एव औचित्य मे निहित एक अनिर्वचनीय महिमा से पाठक का चित्त इतना विस्मित, मुग्ध एव चमत्कृत हो जाता है कि इन सब छोटे-छोटे दोषो की ओर उसका मन जाता ही नही। हम लोग अपनी साधारण आँखो से जिस सूर्य को केवल ज्योतिमण्डल के रूप मे देख पाते हैं, वैज्ञानिको के दूरवीक्षण की सूक्ष्म दृष्टि से उसमे भी कितने ही अन्धकार-रन्ध्र आविष्कृत हो सकते हैं। गवेषक का वह आविष्कार प्रकाण्ड वैज्ञानिक सत्य हो सकता है—किन्तु हम लोगो के निकट, जो प्रभात, मध्याह्न एव सध्या-समय सूर्य किरण के वर्ण-वैचित्र्य एव औज्ज्वल्य को देखकर विस्मयाभिभूत हुए हैं, वह एक प्रकाण्ड सत्य नही है ? कालिदास की उपमाओ मे कष्ट-कल्पना की क्लिष्टता या बँधी-बँधायी रीति की रसवैचित्र्यहीनता कही भी नही है, यह बात हम नही कह सकते—किन्तु उनके काव्य मे वे सूर्य-मण्डल के अन्धकार-रन्ध्र की तरह ही हैं, इसीलिए पाठक का चित्त उनसे पीडित नही होता।

इन समस्त उपमा-प्रयोगा के द्वारा कालिदास के काव्य की जो वस्तु हमारे चित्त को झकझोर देती है, वह कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य है। समस्त काव्य के भीतर कवि की एक विशेष सत्ता का, एक अमोघ स्पर्श का अनुभव हम प्रतिमुहूर्त्त करते हैं। कवि प्रतिभा का स्पष्टतम परिचय वही मिलता है, जहाँ कवि का व्यक्ति-पुरुष अपने स्पर्श से सहृदय पाठक की चेतना को निरन्तर आलोडित करता रहता है एव उस आलोडन के स्पन्दन से कवि का व्यक्ति पुरुष पाठक के हृदय मे निरन्तर एकान्त स्पर्श-योग्य हो उठता है। काव्य के माध्यम से कवि के व्यक्ति स्वातन्त्र्य का यह जो स्पन्दन है—यह जो उसका अमोघ स्पर्श है—उसी ने कालिदास के काव्य को प्रदान की है एक विराट् स्वातन्त्र्य की महिमा। कालिदास के आविर्भाव के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो गई है—बहुत साहित्य रचा गया है—किन्तु आज भी लगता है कि साहित्य के दरबार मे अपनी प्रतिभा के गौरव मे जिस स्थान पर अधिकार कर कालिदास विराजमान हैं आज भी उस आसन के अधिकारी केवल कालिदास ही हैं।

हमारा समालोचना-साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र	१० ००
भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा		१६ ००
देव और उनकी कविता	,	७ ००
रीति-काव्य की भूमिका		५ ५०
विचार और अनुभूति		४ ५०
विचार और विवेचन		५ ५०
विचार और विश्लेषण		५ ५०
सियारामशरण गुप्त	,	४ ००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ		४ ००
अनुसन्धान और आलोचना		
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	१८ ००
समीक्षात्मक निबन्ध	,	५ ५०
आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और सौन्दर्य	डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	१२ ५०
कविता म प्रकृति चित्रण		४ ००
हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध	डा० उदयभानुसिंह	१० ००
नाटय-समीक्षा	डा० दशरथ ओझा	५ ००
मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता	डा० उमाकान्त	१५ ००
गुप्तजी की काव्य-साधना	,,	८ ००
प्रकृति और काव्य	डा० रघुवंश	१२ ००
अनुसधान की प्रक्रिया	डा० सावित्री सिन्हा और डा० विजयेन्द्र स्नातक	५ ००
खडी बोली काव्य मे अभिव्यंजना	डा० आशागुप्ता	१६ ००

नाटयकला	डा० रघुवंश	७ ५०
रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त एम ए	५ ००
भारतीय कला के पदचिह्न	डा० जगदीश गुप्त	५ ००
ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प	डा० सावित्री सिन्हा	२० ००
हिन्दी-साहित्य रत्नाकर	डा० विमलकुमार जैन	५ ००
हिन्दी-उपन्यास	महेन्द्र चतुर्वेदी	६ ५०
डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धांत	नारायणप्रसाद चौबे	७ ००
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न	डा० विमलकुमार जैन	७ ००
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुवीरसरन भारतानी	५ ००
धूल धूसरित मणियाँ	दमयन्ती, सीता आदि	१५ ००
भारत की लोक-कथाएँ	सीता बी० ए०	८ ००
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रामलाल वर्मा	३ ००